दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९७ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २६ अंक नं० १०

जान लियौ संसार

(राग सोरठ)

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार।।हमकौं०
जो निगोदमैं सो ही मुझमैं, सो ही मोखमंझार।
निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार।।हमकौं०
परवश ह्वै आपा विसारिकै, राग दोषकौं धार।
जीवत मरत अनादि कालतें, यौं ही है उरझार।।हमकौं०
जाकरि जैसैं जाहि समयमैं, जो होतव जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार।।हमकौं०
अगनि जरावै पानी बोवै, विछुरत मिलत अपार।
सो पुद्गल रूपी मैं 'बुधजन', सबकौ जाननहार।।हमकौं०

चारित्र
ज्ञान
दर्शन

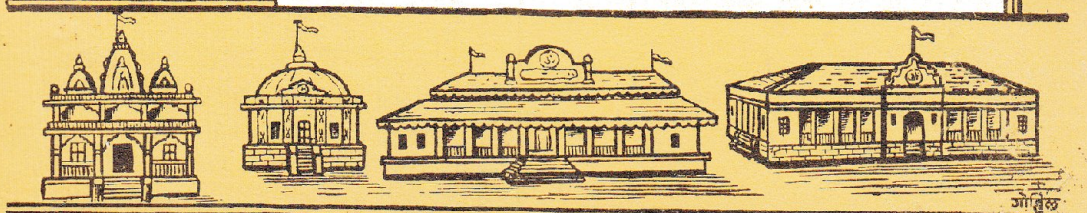

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

फरवरी : १९७१ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (३१०) एक अंक २५ पैसा [माघ : २४९७

विविध समाचार

सौराष्ट्र में पूज्य स्वामीजी का मंगल-विहार

गढडा स्वामीना:—पूज्य श्री कानजीस्वामी तारीख ४-२ के प्रात:काल सोनगढ़ से विहार करके गढडा पधारे और भावभीना स्वागत हुआ। गृह-चैत्यालय में दर्शन के पश्चात् सभा-मंडप में मंगल-प्रवचन हुआ। बाहर से करीब ६०० मेहमान आये थे। माघ शुक्ला १० तारीख ५-२-७१ के प्रात:काल पूजनविधि सहित श्री जिनमंदिर का शिलान्यास पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति में नैरोबी (अफ्रीका) निवासी श्री जेठालालभाई के शुभहस्त से हुआ। इस शुभप्रसंग हेतु वे सपरिवार नैरोबी से आये। मंदिर-निर्माण हेतु अच्छी रकम दान में आयी है। समस्त जैन-जैनेतर भाइयों का अच्छा सहयोग रहा। गढडा पूज्य स्वामीजी के पिताजी का मुख्य गाँव है। कार्यकर्ताओं ने बड़ी सुंदर व्यवस्था की थी। धन्यवाद!

अडताला:—यह गाँव गढडा के निकट है। मुमुक्षुओं के विशेष आग्रह पर स्वामीजी कुछ समय के लिये पधारे थे।

उगामेडी तथा पाटी:—तारीख ६-३-७१ को पूज्य स्वामीजी पधारे और भावभीना स्वागत हुआ। दोपहर को स्वामीजी का प्रवचन भी पाटी में हुआ था।

बोटाद:—तारीख ७-२ के प्रात:काल पाटी से बोटाद पधारे और भव्य हार्दिक स्वागत हुआ। पूज्य स्वामीजी तारीख ११ तक बोटाद में रहे। प्रतिदिन जिनमंदिर में पूजा-भक्ति, दोनों समय प्रवचन तथा रात्रि को तत्त्वचर्चा आदि कार्यक्रम रहते थे। पालीयाद के महंत श्री उनड बापा के बारंबार आग्रहपूर्ण आमंत्रण पर स्वामीजी कुछ समय के लिये वहाँ पधारे थे।

वींछिया:—तारीख १२-२-७१ के प्रात:काल पूज्य स्वामीजी बोटाद से वींछिया पधारे और हार्दिक उल्लासपूर्ण स्वागत हुआ। स्वामीजी तारीख १८-२ तक वींछिया रहेंगे और १९-२-७१ के प्रात:काल सोनगढ़ पधारेंगे।

[टाइटिल पृ० ३ भी देखें]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : श्री ब्र० गुलाबचंद जैन

फरवरी : १९७१ ☆ माघ : वीर नि० सं० २४९७, वर्ष २६वाँ ☆ अंक : १०

आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है

श्री पद्मनंदि मुनि सिद्धस्तुति में कहते हैं:—

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौकिल,
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो,
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते॥१॥

अर्थः—जो विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्री सिद्ध परमात्मा को जानता है, वही सर्व बुद्धिमानों में शिरोमणि है। यदि सिद्ध परमात्मा के ज्ञान से शून्य है तो तर्क, व्याकरण आदि शास्त्रों को जानने से क्या प्रयोजन ? बाण तो उसे ही कहते हैं जो निशानी को वेध सके, अन्यथा व्यर्थ है। अर्थात् आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, उसके बिना अनेक विद्याओं का ज्ञान भी आत्म-हितकारी नहीं है।

फतेपुर (गुजरात) में आठ दिन

हे जीव! आत्मा के आनंद का व्यापार करके लाभ प्राप्त करने का यह मौसम है। सत्समागम से आत्मा को समझकर सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने आत्मा में मोक्ष का शिलान्यास कर।

देहरूपी मंदिर में विराजमान चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा पवित्र है। ऐसे आत्मा का लक्ष करके उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से आत्मा को अपूर्व शांति प्राप्त होती है, वह मंगल है। आत्मा के अतिरिक्त शरीरादि परवस्तु में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है', ऐसा अहंभाव तथा ममत्वभाव, वह अमंगल है-दु:ख है। आत्मा के भान द्वारा इस ममत्व के पाप को जो गलाता है, एवं 'मंग' अर्थात् सुख को लाता है, वह सच्चा मांगलिक है। आनंद के स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा, उसको जहाँ अंतर के श्रद्धा-ज्ञान में स्थापित किया, वहाँ उस धर्मी के अंतरमंदिर में अन्य किसी रागादि परभाव की रुचि-प्रेम नहीं रहता। जिसप्रकार सती के मन में पति के अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति प्रेम नहीं होता, इसीप्रकार सत् जो आत्मस्वभाव, उसको साधनेवाले धर्मात्मा को अपने चिदानंदस्वभाव के अतिरिक्त किसी परभाव का प्रेम नहीं होता। चैतन्य का जो रंग लगा, उसमें अब भंग पड़नेवाला नहीं है। प्रभो! स्वभाव का स्मरण एवं विभाव का विस्मरण करके हम तो आपके मार्ग में आनेवाले हैं; हम तो आपके कुल के हैं; हे प्रभु! जिस मोक्ष के मार्ग पर आप चले एवं पूर्ण सुख प्राप्त करके हमको जो मार्ग बतलाया, उसी मार्ग पर आपके पद-चिह्नों पर चलना, यही हमारा ध्येय है; हमारी पर्याय अब अंतर के पद-चिह्नों पर झुकती है। चिदानंद आत्मा का ऐसा प्रेम करके उसमें अंतर्मुख होना, यह मंगल है, यह मोक्षमार्ग है।

दोपहर को समयसार गाथा ११ के ऊपर प्रवचन प्रारंभ हुए। प्रथम उपोद्घात में 'पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण'—ऐसा कहकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव का परिचय दिया। प्रवास में प्रतिदिन सीमन्धरनाथ एवं कुन्दकुन्दाचार्य की अत्यंत महिमापूर्वक स्मरण करते हुए कहान गुरु कहते हैं कि—अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव मद्रास की ओर पौन्नूर में रहते थे एवं वहाँ से विदेहक्षेत्र में

सीमन्धर परमात्मा के समवसरण में आये थे, इसके 'हम' साक्षी हैं; जो शुद्धात्मा के प्रचुर आनंद के स्वसंवेदन में लीन थे, राग से रहित स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव करते थे, वे विदेहक्षेत्र में जाकर भगवान से जो प्रसाद लाये थे, वही उन्होंने इस समयसार के द्वारा प्रियजनों को प्रदान किया है, अर्थात् मुमुक्षु जीवों को परोसा है। इसमें जैनशासन की उत्कृष्ट बात है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसप्रकार हो, इसका उपाय बतलाकर आचार्यदेव ने भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को भगवान की वाणी प्रदान की है। जिसप्रकार घर का कोई व्यक्ति विदेश जाता है एवं बाद में वापस आता है, तब घर के बाल-बच्चों को तथा कुटुंबियों को वहाँ की विशेष वस्तु का नमूना लाकर सभी को प्रेम से देता है, इसीप्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि में से जो नमूना लाये, आत्मा के आनंद का जो पाथेय लाये—वह उन्होंने इस समयसार द्वारा भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को प्रदान करके महान् उपकार किया है।

ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित समयसार में ११वीं गाथा पर प्रवचन हो रहा है;—जैनधर्म का रहस्य आचार्यदेव ने इस गाथा में भर दिया है:—

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थ के आश्रित जीव, सुदृष्टि निश्चय होता है॥११॥

निश्चय-व्यवहार संबंधी वाद-विवाद का अंत आकर आत्मा को सम्यग्दर्शनादि प्राप्त हो जाये, ऐसे भाव इस गाथा में भरे हैं। व्यवहार के जो अनेक प्रकार के विकल्प, उनमें अंतिम जो सूक्ष्म व्यवहार 'ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप आत्मा' ऐसा गुण-गुणी-भेदरूप व्यवहार है; ऐसा गुण-गुणीभेदरूप व्यवहार भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि इसके लक्ष से भी विकल्प होते हैं, शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता है। अभेद अनुभूतिरूप जो शुद्धात्मा, उसको देखनेवाला शुद्धनय है, वह भूतार्थ है, उसी के अनुभव से सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

'ज्ञानस्वरूप आत्मा है' ऐसा गुणगुणी भेद का विकल्प, आत्मा का अनुभव करते समय बीच में आता अवश्य है, किंतु उसका आश्रय सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि उस विकल्परूप व्यवहार की शरण लेकर रुकता नहीं है, किंतु उसको भी त्याग करनेयोग्य मानकर अंतर के शुद्धात्मा का उस विकल्प से भिन्न अनुभव करता है। ऐसा अनुभव, यही वीतराग का

मार्ग है। मोक्ष के लिये आत्मा में ऐसा सम्यग्दर्शनरूपी शिलान्यास करने की यह बात है। भूतार्थदृष्टिरूपी ध्रुव नींव डालकर आत्मा में जिसने सम्यग्दर्शनरूपी शिला को स्थापित किया, उसके अल्प काल में मोक्ष का परम आनंदरूपी महल निर्मित होगा।

समयसार की प्रथम गाथा में सर्व सिद्धों को वंदन किया... अर्थात् अपनी ज्ञानदशा के आंगन में अनंत सिद्धों को आमंत्रित करके स्वागत किया; जिस ज्ञान ने अनंत सिद्धों को स्वीकार किया, वह ज्ञान राग से पृथक् हो गया है। शरीर अथवा राग में सिद्धों को स्थापित नहीं किया जा सकता; किंतु साधक अपनी ज्ञानपर्याय में सिद्धों को स्थापित करता है:— किसप्रकार? पर्याय को राग से भिन्न करके अंतर के ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर वहाँ उस पर्याय में शुद्ध आत्मा को स्वीकार किया है। शुद्धात्मा को स्वीकार करने में अनंत सिद्धभगवंतों का स्वीकार तथा सत्कार हुआ है, उसके आत्मा में सिद्धपद के लिये सम्यग्दर्शन का शिलान्यास हो गया।

हे भाई! स्वभाव से एकत्वरूप एवं परभाव से विभक्तरूप—ऐसा जो शुद्धात्मा है, उसका स्वरूप पूर्व में तूने कभी श्रवण नहीं किया—अनुभव नहीं किया, एवं बाहर की बंध कथा के श्रवण-मनन-अनुभव के द्वारा तू संसार में दु:खी हुआ है। अब हम तुझे एकत्व-विभक्त ऐसा शुद्धात्मा बतलाते हैं, उसको तू स्वानुभव से पहिचानना... स्वीकार करके उसका अनुभव करना। हमको परम आनंदरूपी परिपूर्ण, शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो निजवैभव प्रगट हुआ है, उस समस्त निजवैभव से शुद्धात्मा को मैं इस समयसार में बतलाता हूँ... तुम भी इसको स्वानुभव में ग्रहण करना।

भगवान आत्मा एक ज्ञायकभाव है; उसमें प्रमत्त-अप्रमत्त ऐसी जो पर्यायें, उतना यह ज्ञायकभाव नहीं है। पर्याय के भेदों से पार, परमार्थरूप एक वस्तुरूप आत्मा को देखना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे आत्मा की दृष्टि अलौकिक है। शुभराग करने की बात लोक में सभी जानते हैं, इसलिये जो शुभराग को धर्म मानते हैं, उनको लौकिक कहा है; आत्मा का धर्म तो राग से पार अलौकिक है। यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर से आया हुआ आनंद के भोजन का थाल है।

अहो, संतों की परम कृपा है कि इस आत्मा को वह 'परमात्मा' कहकर पुकारते हैं। पामरता पर्याय में होते हुए भी उसको मुख्य न करके संत कहते हैं कि हे जीव! तू तो भगवान है...

अति निर्मल है... आनंदस्वरूप है; तू भी तेरे आत्मा को ऐसा ही देख। तू तो अनंत गुणों के वैभव से भरा हुआ है। जैनमार्ग में ऐसा परमात्मपना बतलाकर वीतरागी संतों ने उपकार किया है।

एक व्यक्ति के पास बचपन से ही लाखों-करोड़ों रुपये की संपत्ति थी; किंतु उसकी व्यवस्था उसके मामा करते थे; अतः आवश्यकतानुसार खर्च करने के लिये थोड़ी-थोड़ी रकम देते रहते थे, इसलिये वह अपने को अल्प संपत्तिवाला मान बैठा था। किसी ने कहा, भाई! तू गरीब नहीं, तू तो करोड़ों की संपत्ति का स्वामी है। तब वह कहता है कि—यह रुपये तो मेरे मामा के हैं, वह देते हैं, उतना मैं खर्च करता हूँ। उसके हितस्वी ने कहा—अरे भाई! यह सभी संपत्ति तो तेरी ही है, मामा तो इसके केवल व्यवस्थापक हैं, किंतु संपत्ति तो तेरी है। इसीप्रकार आत्मा में अपने अनंत गुणों का वैभव परिपूर्ण है; शास्त्र तथा संत उसका वर्णन करते हैं। पर्याय में अल्प ज्ञान तथा राग-द्वेष को देखकर अज्ञानी ने अपने को इतना ही अल्पतावाला मान लिया है। ज्ञानी उसको समझाते हैं कि भाई! तू रागी नहीं है, तू तो पूर्ण आनंद तथा केवलज्ञान के निधान का स्वामी है। तब वह कहता है कि केवलज्ञान तथा आनंद इत्यादि वैभव तो अरिहंत के पास, सिद्ध भगवान के पास होता है, तथा शास्त्र में भी उसका वर्णन है।—ज्ञानी उसको कहते हैं कि अरे! अरिहंत तथा सिद्ध भगवंतों का वैभव तो उनका उनके पास है, किंतु उनके जैसा ही तेरा आत्मवैभव तेरे में है। तेरा ज्ञान-आनंदादि वैभव तेरे स्वयं में ही है। शास्त्र तथा ज्ञानी तो तुझे यह बतलाते हैं कि वैभव तो तेरा तुझमें है; तेरा वैभव कहीं उनके पास नहीं है। इसलिये अंतर्मुख होकर अपने आत्मा के वैभव को देख।—इसका नाम भूतार्थदृष्टि है, यह सम्यग्दर्शन है, यह जैनधर्म का प्राण है, तथा यह मोक्ष में प्रवेश करने का द्वार है।

सहज एक ज्ञायकभाव वह आत्मा है, उसको शुद्धनय परभावों से भिन्न अनुभव करता है। ऐसे आत्मस्वरूप को जिसने लक्ष में लिया, वह निहाल होकर केवलज्ञान तथा मोक्ष को प्राप्त हुआ, किंतु जो ऐसे शुद्ध ज्ञायकभावरूप आत्मा का अनुभव नहीं करता, एवं कीचड़युक्त पानी के समान कर्म के साथ संबंधवाला अशुद्धभावरूप ही आत्मा का अनुभव करता है, वह शुद्ध आत्मा को नहीं देख सकने के कारण संसार में ही भ्रमण करता है। शुद्धात्मा जो कि परम एक ज्ञायकभाव है, उसको अंतर में सम्यक्प्रकार से देखनेवाले जीव ही सम्यग्दृष्टि हैं। व्यवहार के अनेक प्रकार, पर का संयोग, कर्म का संबंध, रागादि अशुद्धभाव अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदरूप व्यवहार, यह सभी अभूतार्थ है—इसका आश्रय करने से रागादि विकल्प की उत्पत्ति

होती है। गुण तथा गुणी भिन्न नहीं हैं किंतु उनको भिन्न करके भेद से कथन करनेवाला व्यवहार, उसके लक्ष से वस्तु के अखंड सत्य स्वरूप का अनुभव नहीं होता, अतएव इस व्यवहार को असत्य कहा है। भेद के विकल्प में न रुककर अभेद को लक्ष में ले तो उसके लिये 'व्यवहार द्वारा परमार्थ का प्रतिपादन' कहने में आया है; शुद्धात्मा के स्वरूप को जो देखना चाहता है, उसको व्यवहार के विकल्प में रुकना नहीं चाहिये। गुणभेदरूप व्यवहार बीच में आया, किंतु उस व्यवहार में ही खड़े रहकर परमार्थ आत्मा का अनुभव कभी नहीं हो सकता। परमार्थ आत्मा को लक्ष में लेने से उपयोग उसमें विश्रामरूप होकर परम निराकुल आनंद का अनुभव करता है।—इसका नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसे निर्विकल्प उपयोग के बिना सम्यग्दर्शन तथा आनंद का अनुभव नहीं होता।

आत्मा ज्ञान के द्वारा आत्मा को जानता है, ऐसा भेद करना, यह भी व्यवहार में जाता है; वह भेद भी अभूतार्थ है। सच्चे अर्थात् भूतार्थ आत्मा की अनुभूति में तो ऐसा कोई भेद नहीं रहता है; वहाँ तो एक सहज ज्ञायकभाव ही अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव ही मोक्ष को साधने का मौसम है। (श्रीगुरु संतों के प्रताप से हमें ऐसा मौसम वर्तमान में प्राप्त हुआ है।)

आत्मा का सहज एक ज्ञायकस्वभाव, वह त्रिकाल भूतार्थ है; उसमें अंतर्मुख होकर जो शुद्धपर्याय हुई, वह भी भूतार्थ के साथ अभेद होने के कारण भूतार्थ है। ऐसे भूतार्थ आत्मा का अनुभव, यह अपूर्व भाव है, अपूर्व समय है। पर्याय ने अपने उपयोग की थाप अंतर के भूतार्थ स्वभाव में दी, उस पर दृष्टि का त्राटक लगाया, वहाँ भूतार्थ का अवलंबन लेनेवाली पर्याय भी भूतार्थ हो गई। रागादि भाव, वह अभूतार्थ धर्म है एवं भूतार्थ के आश्रय से प्रगट होनेवाली सम्यग्दर्शनादि पर्याय वह भूतार्थ धर्म है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल भूतार्थ हैं, एवं उनका अनुभव करनेवाली पर्याय भी भूतार्थ हो गई। 'शुद्धनय भूतार्थ है'—द्रव्य-पर्याय को अभेद करके यह कथन है; क्योंकि शुद्धनय स्वयं तो पर्याय है किंतु उसका विषय अखंड आत्मा है; उसमें नय तथा उसके विषय का भेद नहीं रहता, इसलिये शुद्धनय तथा उसके विषय को अभेद मानकर 'शुद्धनय भूतार्थ है' ऐसा कहा है। ऐसे शुद्धनय के द्वारा आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्दर्शनरूपी महान हीरे की प्राप्ति होती है, एवं इसके साथ अनंत अतीन्द्रिय आनंद का लाभ होता है।—ऐसे लाभ का यह अवसर है। आनंद कमाने का यह मौसम है; इसको हे जीव! तू छोड़ना मत... प्रमाद मत करना... अन्यत्र कहीं मत रुकना।●●

जिनशासन अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव

स्वामीजी मगसिर शुक्ला १२ को अहमदाबाद पधारे, समयसार की १५वीं गाथा पर प्रवचन हुआ। खाडिया पोस्ट ऑफिस के सामने दिगम्बर जिनमंदिर में अत्यंत भव्य-विशाल आदिनाथ प्रभु विराजमान हैं, सामने धर्मसभा में आपका प्रवचन हुआ। एक ओर सैकड़ों वाहनों के आने-जाने की धमधमाहट चल रही है, दूसरी ओर चैतन्यस्वरूप के परम शांतरस का प्रवाह चल रहा है। शहर का शोरगुल समीप में होते हुए भी इससे दूर-अतिदूर किसी अगम्य प्रदेश में ले जाकर बाहर के शोरगुल से रहित परम शांत चैतन्यतत्त्व स्वामीजी बतला रहे हैं।

आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है, उसके स्वभाव को देखो तो उसमें कर्म का बंधन नहीं है। ज्ञान के द्वारा अंतर में ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह वास्तव में जिनशासन का अनुभव है, जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का अभिप्राय उसमें समाया हुआ है, ऐसा अनुभव, वह सम्यग्दर्शन है, वह भावश्रुत है, वह ज्ञान की अनुभूति है; इसी को सामान्य का आविर्भाव कहते हैं, यह भूतार्थ धर्म है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को भूतार्थ कहा जाता है; उसके त्रिकाली गुण भूतार्थ हैं, एवं उनके आश्रय से एकाग्र होनेवाली निर्मल पर्याय, वह भी भूतार्थ धर्म है। इसप्रकार आत्मा में शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय, इनको भूतार्थ धर्म कहा; ऐसे शुद्ध आत्मा को देखा उसने जैनशासन का सच्चा स्वरूप देखा। पर्याय में सम्यग्दर्शनादि भूतार्थ धर्म प्रगट हुए, तब उसमें 'त्रिकाल भूतार्थस्वभाव मैं हूँ'—ऐसा जाना। भूतार्थ भाव के द्वारा ही भूतार्थ-सत्य आत्मा प्रत्यक्ष होता है, राग के द्वारा वह प्रत्यक्ष नहीं होता, राग तो अभूतार्थ है। शुद्ध द्रव्य-गुण एवं उनकी ओर झुकी हुई पर्याय इन तीनों में राग का असत्पना है अर्थात् रागादि भाव अभूतार्थ हैं; शुद्धात्मा की अनुभूति में वे भाव प्रवेश नहीं कर सकते, बाहर ही रहते हैं।—इसप्रकार शुद्धात्मा को भूतार्थ कहा तथा रागादि को अभूतार्थ कहा। आत्मा में कर्म के संबंध से रागादि अशुद्ध भाव

होते हैं, इसलिये अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा उसको बंधन तथा कर्म का संबंध है, इस अपेक्षा से वह भूतार्थ है; किंतु शुद्ध स्वभाव से देखो तो आत्मा ने कर्म को तथा अशुद्ध स्वभाव को स्पर्श ही नहीं किया है; पर्याय भी कर्म के संबंध से रहित शुद्ध ही प्रगट होती है; उस शुद्धात्मा में रागादि का तथा कर्मबंधन का अभाव होने से वे समस्त परभाव अभूतार्थ हैं।

पर्याय में देव-मनुष्य इत्यादि भिन्न-भिन्न पर्यायोंरूप अन्य-अन्यपना है; तथापि उसके चैतन्यपनेरूप एक आकार से देखो तो वह सदा एकरूप है।

अशुद्ध पर्याय से देखा जाये तो आत्मा में हीनाधिकता होती रहती है, वह समुद्र की तरंगों के समान अस्थिर-चंचल दिखलाई देता है; किंतु उसके नित्य स्थिर ऐसे चैतन्यस्वभाव को अनुभव में लेने से वह समुद्र के समान सदा निश्चल-स्थिर है।

पर्याय के भेद से देखा जाये तो आत्मा अनेक गुण के भेदरूप दिखलाई देता है, ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि गुणों के भेद विशेष-अपेक्षा से इसमें हैं, किंतु सामान्य स्वभाव में एकाग्र होकर अनुभव करते समय वहाँ अनंत गुणों के एक अभेद आनंद-रस का अनुभव है, उसमें गुणभेद का कोई भी विकल्प नहीं रहता है।

जिसप्रकार पानी का स्वभाव शीतल है, अग्नि के संयोग से जो उष्णपना वर्तता है, वह सच्चा स्वभाव नहीं है; अग्नि के संयोग से रहित पानी के शीतल स्वभाव को देखो तो वह शीतल ही है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में मोह के संबंध से अशुद्धता वर्तती है, किंतु मोह के संबंध से रहित, आत्मा का एकांत ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव का अनुभव करते समय उसमें किंचित् भी अशुद्धता नहीं है; उसकी ओर झुकी हुई पर्याय भी अशुद्धता से रहित है। इसप्रकार भावश्रुत के द्वारा आत्मा को अनुभव में लेना, वह सम्यग्दर्शन तथा जिनशासन है।

भगवान आत्मा द्रव्य में तथा पर्याय में अपने शुद्ध ज्ञानानंदस्वभावरूप से ही प्रकाशित होता है। पर्याय अंतरोन्मुख होकर सामान्य स्वभाव में एकाग्र हुई—वहाँ शुद्धात्मा की अभेद अनुभूति में 'सामान्य का आविर्भाव' कहा है। ऐसे अनुभव को जिनशासन तथा धर्म कहा जाता है। ऐसे आत्मा में जाना, वह भगवान का मार्ग है। भगवान ने इसप्रकार मोक्ष की साधना की है, और ऐसा ही मार्ग बतलाया है;—यही जिनशासन है।

भगवान पारसनाथ

[३]

तेईसवें तीर्थंकर श्री पारसनाथ भगवान का जीवन चारित्र अपन पढ़ रहे हैं। तीर्थंकर इत्यादि महान पुरुषों के जीवन में से, आत्मा की आराधना किसप्रकार करना, वही अपने को सीखना है। पाप के फल में नरकादि के भयंकर दु:ख प्राप्त होते हैं; इसलिये उनका त्याग करना; पुण्य के फल में स्वर्गादिक प्राप्त होता है—ऐसा ज्ञान करके आत्मा के ज्ञानसहित वीतरागभाव से मोक्ष प्राप्त होता है—इसलिये उसकी उपासना करना।

—००—००—

पारसनाथ का जीव – जो कि मरुभूति के भव में मरकर हाथी हुआ था, अपने पूर्वभव के संबंधी अरविंद मुनिराज को देखकर जिसे जाति-स्मरणज्ञान हुआ था, वह मुनिराज के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके महा आनंदित हुआ है, और मुनिराज को परम भक्ति से नमस्कार करता है। वह विस्तृत वर्णन गतांक में पढ़ा, अब आगे पढ़िये।

❀ [३] हाथी बारहवें स्वर्ग..... सर्प पांचवीं नरक में ❀

अपने चरित्रनायक का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी बनकर मुनिराज के उपदेश द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त किया; सर्प के काटने पर समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में देव हुआ—उसका नाम शशिप्रभदेव हुआ। स्वर्ग की दिव्य विभूति को देखकर आश्चर्य प्राप्त करके अवधिज्ञान से देखा कि मैंने हाथी के पूर्वभव में धर्म की आराधनासहित जो व्रत पाले, उनका फल है; ऐसा जानकर उसको धर्म के प्रति विशेष बहुमान आया; पूर्वभव में आत्मज्ञान देनेवाले मुनिराज के उपकार को बारंबार याद करके स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिनबिम्बों की पूजा की। देवलोक के रत्नमय शाश्वत वीतराग मूर्ति को देखते ही अतिशय आनंद प्राप्त किया—ऐसा ही मेरा आत्मा है—इसप्रकार की भावना का चिंतवन करता हुआ असंख्यात वर्ष

तक देवलोक में रहा; इस अवधि में अनेक बार पंचमेरु; नंदीश्वरद्वीप के शाश्वत जिनमंदिरों की पूजा की; स्वर्ग में अनेक सम्यग्दृष्टि देव थे, उनके साथ धर्म की चर्चा करके अपने श्रद्धा-ज्ञान को दृढ़ करता रहता था। मनुष्य के समान प्रतिदिन भूख नहीं लगती थी, सोलह हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद उन्हें खाने की इच्छा हुई, मन में अमृत का चिंतवन करते ही उनकी भूख शांत हो गई। आठ महीने में एकबार श्वास लेता था। उन्हें चौथी नरक तक का अवधिज्ञान होने से वहाँ तक विक्रिया कर सकता था। उनका दिव्यरूप था, देव, देवियों का वैभव भी अपार था। असंख्य वर्षों तक ऐसे देवलोक के मध्य में रहते हुए भी वह जीव आत्मज्ञान को नहीं भूला। बाह्य वैभव से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को समझता था। उसको बाहर में अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों से सुख-सामग्री प्राप्त होती रहती थी, तथा अंतर में अपने चैतन्य कल्पवृक्ष के सेवन से सच्चे सुख का अनुभव करता रहता था। जैनधर्म के प्रभाव से एक पशु भी देव हो गया, एवं थोड़े ही समय में वह भगवान हो जायेगा! अहा, जिसके प्रभाव से पशु भी परमात्मा हो जाता है—ऐसे जैनधर्म की जय हो! हमें भी संसार से छूटकर परमात्मा होने के लिये जैनधर्म में बतलाये हुए आत्मा के स्वरूप की पहिचान करना चाहिये।

शशिप्रभदेव असंख्य वर्ष तक देवलोक में रहने के बाद उसको ज्ञात हुआ कि देवलोक के आयुष्य में अब मेरे छह मास ही शेष रह गये हैं;—तब वह आकुलित न होकर उसने धर्म के चिंतन मैं अपना चित्त अधिक लगाना प्रारंभ किया; शरीर से भिन्न आत्मा है—ऐसा तो वह जानता था, इसलिये स्वर्ग के वैभव में उसने कभी सुख माना ही नहीं, इसलिये स्वर्ग को छोड़कर मनुष्यलोक में आते हुए उसे दु:ख नहीं हुआ, किंतु ऐसी भावना जागृत हुई कि मनुष्य पर्याय धन्य है, मनुष्य पर्याय में जाकर मुनि होकर चारित्र अंगीकार करूँगा; मुनिदशा महा आनंददायक है।—इसप्रकार मुनिदशा की भावना का चिंतवन करते हुए जिनेन्द्र भगवान के शरणपूर्वक उस जीव ने स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यलोक में अवतार धारण किया।—कहाँ जन्म लिया? इस प्रकारण को अब आप पढ़िये, इसके पहले कमठ का जीव कहाँ है, वह देख लेते हैं।

कमठ का जीव जो सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवीं नरक में गया, वहाँ असंख्य वर्ष तक अत्यंत दु:खों को सहन किया। उसे भूख-प्यास असीम थी, उसके शरीर के प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे; लोहे का गोला भी पिघल जाए ऐसी ठंड थी; करवत तथा भाला से उसका शरीर छेदा-भेदा जाता था; आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं, तथा अच्छे भाव भी नहीं थे,

अज्ञान से तथा खराब भावों से वह बहुत ही दु:खी था। पूर्व भव के अपने भाई के प्रति क्रोध के संस्कार अभी भी उसने त्याग नहीं किये थे; क्रोधित अवस्था में ही नरक में से निकलकर विशाल भयंकर अजगर बना।

(४) अग्निवेग-मुनि तथा अजगर

अपने चरित्रनायक भगवान पारसनाथ का जीव स्वर्ग में से च्युत होकर जम्बुद्वीप के विदेहक्षेत्र में जन्म लिया। इस जम्बुद्वीप के मध्य में महान मेरुपर्वत है; उसके पूर्व तथा पश्चिम की ओर विदेहक्षेत्र है। पूर्व की ओर के विदेह में सीमंधर तथा युगमंधर नाम के तीर्थंकर सदाकाल विराज रहे हैं तथा दिव्यध्वनि के द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हजारों केवली-अरिहंत भगवान तथा लाखों जिन-मुनिराज इस देश में विचरते हैं। वहाँ करोड़ों मनुष्य आत्मा की पहिचानपूर्वक धर्म की साधना करते हैं। इस देश की शोभा अद्‌भुत है। देव भी जहाँ भगवान के दर्शन करने आते हैं। वहाँ सच्चे धर्म के अलावा अन्य कोई भी असत्य धर्म का प्रचार नहीं है; स्थान-स्थान पर अरिहंत भगवान के जिनमंदिर हैं, उनमें मणि-रत्नों की अद्‌भुत मूर्तियाँ हैं। अन्यमत के मंदिर वहाँ नहीं हैं। वहाँ दिगम्बर जैन साधु ही विचरण करते हैं, अन्य कुलिंगी साधु वहाँ नहीं हैं।

ऐसे सुंदर विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के मध्य विजयार्ध पर्वत है। चक्रवर्ती जब छह खंड जीतने निकलते हैं, तब विजय का आधा भाग पूर्ण होने के बाद वह 'विजय-अर्ध' पर्वत आता है। इस विजयार्ध पर्वत के ऊपर अत्यंत मनोहर शाश्वत जिनमंदिर हैं। उसके ऊपर दोनों दिशाओं में विशाल-विशाल नगर की पंक्तिबद्ध श्रेणियाँ हैं, वहाँ विद्याधर मनुष्य रहते हैं, वह विद्याधर जैनधर्मालम्बी हैं।

इन विद्याधरों के एक नगर में विद्युतगति नामक राजा तथा विद्युनमाला नाम की रानी थी; इन राजा-रानी के यहाँ पारसनाथ के जीव ने अवतार लिया, उनका नाम अग्निवेग था।

विदेहक्षेत्र में अवतरित अग्निवेग बचपन से ही आत्मज्ञानी थे। वे पूर्व भव से ही आत्मज्ञान साथ में लेकर आये थे। छोटे से ज्ञानी की बालचेष्टा देखकर सभी को अत्यंत आनंद होता था। राजकुमार अग्निवेग शांत, उत्तम लक्षणवाला था; अपने मित्रों के साथ धर्म-चर्चा करता था, पंचपरमेष्ठी भगवंतों के गुणगान करता था, जिनमंदिर में बड़े-बड़े उत्सव करवाता

था, इसीप्रकार बारंबार तीर्थंकर भगवान की सभा में जाकर धर्मोपदेश श्रवण करता हुआ मुनिराजों की सेवा भी करता था।

एकबार वह वन में गया; वहाँ की शोभा को देखते-देखते अचानक उन्हें एक साधु दिखायी दिये। वह साधु आत्मचिंतन में एकाग्र थे, मानो साक्षात् भगवान ही बैठे हों—ऐसी उनकी मुद्रा थी! मुनि को देखते ही अग्निवेग अत्यंत आनंदित हुआ, और समीप जाकर मुनि को वन्दन करके उनके निकट बैठकर आत्मा का विचार करने लगा कि अहो! ऐसी मुनिदशा धन्य है... आत्मा में एकाग्र होकर प्रचुर आनंद का अनुभव करने की यह दशा है। अल्पकाल में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने के बाद फिर से उन्हें नमस्कार किया, मुनिराज ने उसको धर्म का आशीर्वाद देते हुए कहा कि हे भव्य! आत्मा के सम्यक्स्वभाव को तो तूने पहिचान लिया है, अब उस स्वभाव की विशेष साधना करने के लिये तू मुनिपने का चारित्र अंगीकार कर। अब तेरा संसार अत्यंत अल्प रह गया है; मनुष्य के तीसरे भव में तू मोक्ष को प्राप्त करेगा। प्रथम चक्रवर्ती होगा। बाद में तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

अहा! किसको अपने मोक्ष की बात सुनने से आनंद नहीं होगा? मुनिराज से अपने मोक्ष की बात श्रवण करके अग्निवेग अत्यंत आनंदित हुआ। संसार के प्रति उसको अत्यंत वैराग्य जागृत हो गया कि अरे! मेरे को तो अल्पकाल में मोक्ष साधना है; मुझे इस राजपाट में बैठे रहना योग्य नहीं; मैं तो आज ही मुनि होकर आत्म-साधना में एकाग्र हो जाऊँ।

इसप्रकार यौवन अवस्था में राजकुमार ने वैराग्य प्राप्त करके मुनिराज के पास दीक्षा ग्रहण कर साधुदशा धारण की। राज्य-पाट का त्याग, स्त्री-पुत्र का त्याग तथा वस्त्रों का भी त्याग किया—सर्व परिग्रह का त्याग करके कषायों को भी त्याग कर अंतर के एकत्व स्वरूप का ध्यान करने लगे। मेरा आत्मा सभी परभावों से भिन्न है, मैं अकेला हूँ, ज्ञान तथा सुख से परिपूर्ण हूँ, इसप्रकार निजात्मा का ध्यान करने लगे। अग्निवेग-मुनिराज तो इसप्रकार आत्मा के ज्ञान-ध्यानपूर्वक वन-जंगल में विचरण करके मोक्ष की साधना कर रहे हैं—इतने में एक घटना हुई:—

पूर्व भव में कमठ का जीव जो नरक में था, वह वहाँ से निकलकर विशालकाय अजगर बना। वह अजगर भी इसी विदेहक्षेत्र में रहता था, शिकार की खोज में वह इधर-उधर घूम रहा

था। अजगर जब मुँह खोलता था तो वहाँ एक गुफा हो, ऐसा दिखलाई देता था। जंगल के कितने ही पशुओं को वह वैसा का वैसा मुँह में निगल जाता था। अजगर फुंकार करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। अग्निवेग-मुनिराज को देखते ही वह उनकी तरफ दौड़ा... अरे रे, क्षमाधारी मुनिराज को देखकर भी अजगर का क्रोध शांत नहीं हुआ; शांतरस में झूलनेवाले मुनिराज को देखकर भी अजगर का विष नहीं उतरा... वह तो क्रोधित होकर मुँह फाड़कर मुनिराज को ऐसा का ऐसा पूर्णतया निगल गया। अजगर के पेट में भी मुनिराज ने आत्मध्यानपूर्वक समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में गये। देखो तो सही, उनकी क्षमा! अजगर खा गया तो भी उसके ऊपर क्रोध नहीं किया। स्वयं अपनी आत्मसाधना में रहे। क्रोध में तो दु:ख है, आत्मा की साधना में परम शांति है। ऐसे शांत भावों से उन्होंने समाधि-मरण किया।

[५] सोलहवें स्वर्ग का देव तथा छट्ठी नरक का नारकी

मुनिराज तो शांतभाव से समाधिमरण करके स्वर्ग में गये, अजगर क्रोधित भावों के कारण फिर छट्ठी नरक में जाकर महा दु:खी हुआ। दोनों के आयुष्य बावीस सागरोपम के थे। एक समय में यह दोनों सगे भाई थे, उनमें से एक तो २२ सागरोपम तक स्वर्ग के सुख भोगकर, तथा दूसरा २२ सागरोपम तक नरक के दु:ख भोगकर, वहाँ से दोनों जीव मनुष्य लोक में आये, उनमें से एक चक्रवर्ती हुआ, तथा दूसरा शिकारी भील बना। इसका वर्णन अब इस प्रकरण में पढ़िये।

[६] वज्रनाभि-चक्रवर्ती तथा शिकारी भील

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान के पूर्वभवों का वर्णन हम पढ़ रहे हैं। मरुभूति मंत्री के भव में अपने भाई कमठ के द्वारा मरण को प्राप्त हुआ, वहाँ से हाथी होकर अनंद सहित सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सर्प देश से मरकर स्वर्ग में गया; बाद में पूर्व विदेहक्षेत्र में अग्निवेग-राजकुमार होकर मुनि हुआ, अजगर द्वारा निगल जाने के कारण वहाँ से समाधिमरणपूर्वक स्वर्ग में गया, अब पश्चिम-विदेहक्षेत्र में जन्म लेकर चक्रवर्ती बनता है, उसका वर्णन चलेगा:—

जिसमें हम रहते हैं, इसका नाम जम्बुद्वीप है, इसके मध्य में मेरुपर्वत है, मेरुपर्वत के पश्चिम दिशा में विदेहक्षेत्र में बाहु-सुबाहु तीर्थंकर भगवान सदा विराजमान हैं; हजारों केवली

भगवान तथा लाखों मुनिराज वहाँ सदा विचरण करते हैं। धन्य है वह देश जहाँ धर्मी जीवों के झुण्ड के झुण्ड निवास करते हैं, वहाँ जैनधर्म का जय-जयकार वर्तता है।

इस सुंदर देश में अश्वपुरनगर के राजा का नाम वज्रवीर्य तथा रानी का नाम विजयादेवी था। एक बार रानी ने पाँच आनंदकारी मंगल स्वप्न देखे—मेरुपर्वत, सूर्य, चंद्र, देवविमान तथा भरा हुआ सरोवर—इन पांचों स्वप्नों की बात रानी ने राजा से कही तथा पूछा कि हे महाराज! पाँचों स्वप्नों का फल क्या है ?

राजा ने कहा—उनका फल यह है कि तुझे एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी और वह चक्रवर्ती बनेगा।

रानी यह सुनकर अति प्रसन्न हुई और पंच परमेष्ठी के गुणगान करने लगी। अल्प काल के बाद उसे एक पुत्र का जन्म हुआ; इसका नाम वज्रनाभि रखा गया। वही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव है। जो कि स्वर्ग में से च्युत होकर यहाँ जन्म लिया है। राजा ने पुत्र-जन्म का महान उत्सव किया। छोटा सा राजकुमार बालचेष्टा द्वारा सभी को आनंदित करता था। भले ही छोटा था किंतु महान आत्मा को जाननेवाला था; वह कभी-कभी आत्मा की मधुर बातें करता, जिसको श्रवण करने से अनेक जीवों को धर्म की प्रेरणा जागृत होती थी; कभी एकांत में ध्यान धर करके चैतन्य के चिंतन में बैठ जाता मानो कोई छोटे से मुनिराज बैठे हों।

वज्रनाभि जैसे-जैसे बड़ा होता गया, वैसे-वैसे वह अनेक प्रकार की विद्याओं में प्रवीण होने लगा। बुद्धि संपन्न राजकुमार न्याय-नीति के मार्ग पर चलनेवाला था। अनेक गुण-रत्नों का भंडार था। यौवनावस्था में उन्हें राज्याभिषेक हुआ। एक बार उत्तम पुण्योदय से धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर उसके देश में पधारे, तथा उसी समय उसके राज्यभंडार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। पुण्य से भी धर्म श्रेष्ठ है—ऐसा समझनेवाला वह राजकुमार प्रथम धर्म चक्रवर्ती के दरबार में जाकर तीर्थंकर की पूजा की; तथा बाद में सुदर्शनचक्र का उत्सव किया। इस सुदर्शनचक्र का ऐसा सामर्थ्य है कि दुश्मन पर चलाया जाए तो उसके प्राण नाश कर देता है—किंतु आश्चर्य की बात है कि इस चक्र के द्वारा एक भी जीव की हिंसा किये बिना उन्होंने छह खंड जीत लिये, मानो अहिंसा चक्र के द्वारा ही छह खंड जीताकर चक्रवर्ती बने हों। चक्रवर्ती का अपार वैभव उनको प्राप्त हुआ था; छियानवे क्रोड गाँव उनके आधीन थे; उसकी

सेना में चौरासी लाख हाथी थे; उसके छियानवे हजार रानियाँ थी; सात सौ उत्तम रत्नमणि की खदानें थी। बत्तीस हजार राजा-महाराजा उसके आधीन थे। उसके पास नौ निधान थे जो कि इच्छानुसार वस्त्र, शस्त्र, अलंकार, पुस्तक, संगीत, पात्र तथा रत्न प्रदान करते थे। उनके पास चौदह महारत्न थे; अद्भुत सिंहासन, छत्र, चामर इत्यादि अपार वैभव था; पचास कोस तक जिसकी ध्वनि सुनाई दे, ऐसी आनंदभेरी थी; उनके राज्य में जिनमंदिरों की शोभा ही अद्भुत प्रकार की थी; उच्च कोटि के रत्नों से जिनकी शोभा थी, उससे भी अधिक उनमें विराजमान अरिहंत देव की वीतराग प्रतिमा से वह सुशोभित थे।

—ऐसा अद्भुत वैभव होते हुए भी वह चक्रवर्ती जानते थे कि इस सभी बाह्य वैभव से भी भिन्न जाति का मेरा अनंत चैतन्यवैभव है, वही सुख को प्रदान करनेवाला है। बाहर का कोई भी वैभव सुख को देनेवाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य के फल से प्राप्त होनेवाला बाह्य वैभव तो अल्पकाल रहनेवाला है। मेरा आत्मवैभव अनंत काल तक मेरे साथ रहनेवाला है; सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र के द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है।—ऐसे भानपूर्वक वे जगत से उदासीन रहते थे—

'दास भगवंत का उदास रहे जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं'

चक्रवर्ती पद में रहते हुए भी अंतर में अद्भुत ज्ञानपरिणति सहित प्रतिदिन अरिहंत देव की पूजा करते, मुनिवरों की सेवा करते, शास्त्र-स्वाध्याय करते, सामायिक इत्यादि क्रियाएँ करते थे। इसप्रकार धर्म-संस्कारों से भरा हुआ उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्शरूप था। राज्य करते हुए भी वह कभी आत्मा के धर्म को भूलते नहीं थे। इसप्रकार राज्य करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन क्षेमंकर मुनिराज उनके नगर में पधारे; अद्भुत वीतरागी उनकी मुद्रा थी। वज्रनाभि चक्रवर्ती भी उनके दर्शन करने गये, मुनि को देखते ही उनकी आँखें हर्षाश्रु से भर गईं।—धन्य रत्नत्रयधारी मुनिराज! वीतरागी तीन रत्नों के समक्ष इस चक्रवर्ती के चौदह रत्न सर्वथा तुच्छ हैं। इसप्रकार अत्यंत भक्तिपूर्वक मुनिराज को तीन प्रदक्षिणा दी, उनको वंदन किया, स्तुति तथा पूजा की; फिर आत्मा के हित का उपदेश श्रवण करने की जिज्ञासा प्रगट की।

मुनिराज ने चक्रवर्ती को मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागीभाव समझाये, तथा मोक्ष के लिये ऐसा वीतरागीभाव ही कर्तव्य है—ऐसा बतलाया। हे जीव! तू इस संसार दु:ख से मुक्त होना चाहता हो तो ऐसी चारित्रदशा अंगीकार कर। राग आत्मा का स्वभाव नहीं। राग तो दु:ख है; इसलिये कहीं भी किंचित् राग न रकते हुए, वीतराग होकर भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं। हे राजन्! ऐसी वीतरागी धर्म की साधना करने के लिये तत्पर हो। तुझे आत्मा का भान तो है, अब थोड़े ही भव शेष हैं, बाद में तू तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

मुनिराज के ऐसे वीतरागी उपदेश का श्रवण करके चक्रवर्ती राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ, उसे भी उत्तम वैराग्य भावना जागृत हुई। शरीर तथा भोगों से उसका मन उदास हुआ। एवं धर्म में उत्साह अधिक बढ़ जाने से राजा ने अत्यंत विनयपूर्वक मुनिराज से मुनिदीक्षा की प्रार्थना की।

हे प्रभु! आपके उपदेश से मेरा मन इस संसार से अत्यंत उदासीन हो गया है, परभावों से विरक्त होकर निजस्वरूप में लीन होने के लिये मेरा आत्मा तत्पर हो गया है; हे देव! इस जगत में मेरा शुद्धात्मा ही मेरे लिये ध्रुव है, शरीरादि समस्त संयोग अध्रुव हैं, वह कोई मुझे शरणरूप नहीं हैं, समस्त परद्रव्य तथा परभावों से अत्यंत भिन्न, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण केवल मेरा आत्मा ही एक है—ऐसा मैंने पहिचाना है। आनंदमय मेरा आत्मा ही पवित्र है, शरीर तथा रागादि आस्रव तो अशुचि के भंडार हैं। अज्ञानमय आस्रवों के कारण मैंने संसार की चारों गति में भव धारण कर-करके अत्यंत दु:खों को भोगा है। देवलोक में भी राग-द्वेष के कारण दु:खी हुआ, मनुष्यभव में भी इष्ट का वियोग; अनिष्ट का संयोग—ऐसे प्रसंगों में अति-रौद्र ध्यान करके दु:खी हुआ; कभी पुत्र अथवा भाई बैरी हुए, कभी शरीर में रोग-पीड़ा हुई, कभी मानसिक पीड़ा से दु:खी हुआ; तिर्यंच तथा नरक के अवतार में जीव ने मोह के कारण भयंकर दु:ख भोगे—उनकी तो बात ही क्या? प्रभु! इस दु:खमय संसार से आप मेरा उद्धार करो.... रत्नत्रयरूपी जहाज के द्वारा आप मुझे इस भव समुद्र से पार करो। संसार में सुख नहीं, इसलिये तीर्थंकर भी संसार का त्याग करके मोक्ष की साधना करते हैं। प्रभो! मैं भी मुनिदीक्षा लेकर तीर्थंकरों के मार्ग पर चलना चाहता हूँ।

मुनिराज ने कहा—हे भव्य! तेरी भावना उत्तम है। संसार के सुखों से जीव को कभी

संतोष होनेवाला नहीं, मोक्ष सुख ही सच्चा सुख है। जीव ने भवचक्र में भ्रमण करते हुए अन्य सभी भावों का अनंत बार चिंतवन किया किंतु आत्मभाव का कभी चिंतवन नहीं किया, सम्यक्त्वादि भावों का कभी सेवन नहीं किया। इसलिये इस मनुष्य अवतार में उसकी भावना करना चाहिये। तू चक्रवर्ती पद को भी असार समझकर उसका त्याग करने को तैयार हुआ और सारभूत रत्नत्रय को धारण करने के लिये तैयार हो गया, इसलिये तुझे धन्य है। ऐसा कहकर मुनिराज ने वज्रनाभि चक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी। वह चक्रवर्ती अब राजपाट का त्याग करके जिनमुद्रा धारी मुनि हो गये। चक्रवर्ती छह खंड की विभूति के उपभोग से संतुष्ट नहीं हुए, इसलिये मोक्ष के अखंड सुख की साधना करने के लिये तत्पर हो गये हैं। धन्य है उन मुनिराज को! उनके चरणों में नमस्कार हो।

धन्य मुनिश्वर आतम हित में छोड़ दिया परिवार.....
कि तुमने छोड़ा सब संसार...
धन छोड़ा वैभव सब छोड़ा, जाना जगत असार....
कि तुमने छोड़ा सब संसार....
आत्मस्वरूप में झूलते... करते निज आतम उद्धार...
कि तुमने छोड़ा सब संसार....

ऊँचे हाथी के हौदे पर बैठनेवाले चक्रवर्ती अब नंगे पैर वन में चलने लगे... रत्नमणि से जड़े हुए वस्त्र-आभूषण से रहित वह मुनिराज रत्नत्रय से शोभने लगे। सुवर्ण की थाली में भोजन करनेवाले चक्रवर्ती अब हाथ में ही भोजन करने लगे। उन्होंने १४ रत्नों का त्याग करके तीन रत्न ग्रहण किये... नौ निधान का त्याग करके अखंड आनंद के निधान की साधना करने लगे... छियानवें हजार रानियों तथा छियानवें करोड़ सेना—उन सभी के संग का परित्याग करके, असंगपना धारण करके वन-जंगल में निवास करते हुए चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने लगे।

एक बार वे मुनिराज जंगल में आत्मा के ध्यान में बैठे हुए थे... सिद्ध के समान अपने आत्मसुख का, बारंबार अनुभव करते थे... जंगल में आसपास क्या हो रहा है, उसकी ओर उनका लक्ष नहीं था... शरीर का भी लक्ष नहीं हुआ। शरीर से भिन्न आत्मा—मैं ही परमात्मा

हूँ—ऐसे ध्यान में एकाग्र थे। इतने में... दूर से सननन् करता हुआ एक तीर आया और मुनिराज के शरीर को वींध डाला....

—यह तीर कहाँ से आया ? उनके पूर्वभव का भाई, कमठ का जीव—जो कि नरक में था, वहाँ से निकलकर कुरंग नाम का शिकारी भील बना था। उसने यह तीर मारा था। भील इस वन में रहता था। वह माँस का लोलुपी होने से हाथ में धनुष-बाण लेकर क्रूर परिणामों से हिरण आदि पशुओं की हिंसा करता था। इसप्रकार महान पाप का बंध कर रहा था। वन में फिरते हुए वह भील जहाँ मुनिराज ध्यान में बैठे थे, वहाँ आ पहुँचा। मुनिराज को देखने से उसे परम भक्तिभाव होना चाहिये किंतु इससे विपरीत पूर्वभव के संस्कार के कारण क्रोधावेश में आकर हाथ में धनुष लेकर मुनि को निधाना बनाकर तीर छोड़ा, जिससे मुनि का शरीर विध गया।

अरे रे ! क्रोध कितना खराब है ! कहाँ जीव का उपशमभाव ! तथा कहाँ यह क्रोध ! क्रोध से अंधा बना हुआ क्रूर जीव, इन छोटे भगवान के समान मुनिराज को भी नहीं पहिचान सका... तथा ध्यान में स्थित इन अहिंसक मुनिराज की बिना कारण हिंसा करके जीव ने तीव्र अनंतानुबंधी क्रोध से सातवें नरक का आयुष्य बाँध लिया। क्रोध से भान भूले हुए जीव को इतना भी भान नहीं था कि इस क्रोध के फल में कितने भयंकर दु:ख भोगने पड़ेंगे।

शरीर विंध गया है तो भी मुनिराज तो अपने आत्मस्वभाव में निश्चल हैं; उनके ध्यान में कोई भी मित्र अथवा शत्रु नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, कोई पूजा करे अथवा कोई तीर मारे—किंतु दोनों के प्रति समभाव है। जीवन तथा मरण के समय उनको समभाव है, शरीर का भी उनको ममत्व नहीं है, आत्मा के आनंद में ऐसे लीन हैं कि शरीर विंध जाने पर भी उनको दु:ख नहीं हुआ; मोह हो तो दु:ख हो न ! निर्मोही को दु:ख कैसा ? वह तो निर्मोही होकर धर्मध्यान में ही एकाग्र हैं। तीर मारनेवाले भील के ऊपर भी क्रोध नहीं हुआ। वाह रे वाह ! धन्य क्षमा के भंडार मुनिराज !

प्रिय पाठकों ! तुम भी भील के ऊपर क्रोध मत करना... किंतु क्षमा के भंडार ऐसे मुनिराज से उत्तम क्षमा का पाठ सीखना।

वज्रनाभी मुनिराज दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना में अडिग थे, उसमें उन्होंने भंग नहीं पड़ने दिया; धर्मध्यान की एकाग्रतापूर्वक शरीर को त्याग करके समाधिमरण से मध्यम

ग्रैवेयक में अहमेन्द्र बने।

भील का जीव अपने महान पापों का फल भोगने के लिये सातवीं नरग में गया। रौद्रध्यान से मुनि की हत्या की, इसलिये वह महा दु:खी हुआ। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अज्ञानदशा में ऐसे भाव अनेक बार धारण किये हैं। वह जीव भी क्षण में अपने भाव परिवर्तित करके अपना हित साध सकता है। पापी जीव भी क्षण में किस प्रकार परिवर्तन करके आत्मा का उद्धार करता है, उसे भी आप अगले अंक में पढ़ेंगे, तब उस जीव के ऊपर प्रेम जागृत होगा।

सुख का उपाय

भाई, तुझे सुखी होना हो तो अपने ज्ञान में परमात्मा की स्थापना कर, बाह्य विषयों को स्थान न दे। आनंद तो तेरा स्वरूप है, उसमें विषयों की आवश्यकता कहाँ है ? इसलिये तो कहते हैं कि हे जीव ! सुख अंतर में है, उसे बाह्य में न ढूँढ़ ! जगत को संतुष्ट करने में और जगत से संतुष्ट होने में तो जीव ने अनंत काल गँवा दिया, परंतु उसमें किंचित् सुख नहीं है.... अंतर्मुख रुचि द्वारा अपने आत्मा को संतुष्ट कर और आत्मा के स्वभाव से तू संतुष्ट हो, तो तुझे सच्चे सुख का अनुभव होगा। संयोग द्वारा संतुष्ट न हो, राग द्वारा संतुष्ट न हो, आनंद का भंडार तुझमें भरा है, उसमें तू संतुष्ट हो, प्रसन्न हो, आनंदित हो।

जिसने चैतन्य का सुख देखा है, वह धर्मात्मा जगत के किसी विषय में लुभाता नहीं है। चैतन्य में भरा हुआ अनंत सुख का भंडार धर्मी को ऐसा लुभाता है कि वह उसी के स्वाद में तल्लीन हो जाता है। अनंत सुख के धाम में जो लुभाया, वह किन्हीं सांसारिक विषयों के लालच में नहीं फँसता। सांसारिक पदार्थों की लालसा उसे छूट गई और चैतन्यानंद के अनुभव की उत्कृष्ट लालसा (प्रीति) जागृत हुई; उसमें तल्लीन—एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है। वही सुखी है।

तीर्थंकरों के मार्ग में प्रवेश

(फतेपुर का प्रवचन)

आत्मा को सम्यग्दर्शन किसप्रकार हो, उसका वर्णन चल रहा है:—

व्यवहार के अनेक प्रकार हैं, क्योंकि उसमें सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत होने से कर्म के साथ सम्मिलित अनेक भाव अनुभव में आते हैं; जबकि निश्चय का प्रकार एक ही है, इसमें सहज एक ज्ञायकभावरूप ही आत्मा अनुभव में आता है; ऐसे सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्धनय के द्वारा जो देखता है, वह सम्यग्दृष्टि है, वही सच्चे आत्मा को देखनेवाला है। ऐसे आत्मा को पहिचानकर तीर्थंकर भगवंतों के मार्ग में प्रवेश किया जा सकता है। रागादि अशुद्धभाव द्वारा ही अपने को जो अनुभव करता है, उसका तीर्थंकरों के मार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता अर्थात् धर्म का प्रारंभ नहीं होता। भगवंत तीर्थंकरों के बतलाये हुए मोक्षमार्ग में प्रवेश करने का द्वार शुद्धनय है।

जगत में अनेक जीव तो रागादि अशुद्धभाव द्वारा ही आत्मा का अनुभव करते हैं; शुद्धनय के द्वारा भेदज्ञान करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाले जीव तो विरले ही हैं। यहाँ पानी तथा कीचड़ के दृष्टांत से यह बात समझाते हैं।

आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव, एवं मोहादि अशुद्धभाव सर्वथा एकरूप नहीं हैं किंतु भिन्न स्वभाववाले हैं, जिसप्रकार पानी तथा कीचड़ सर्वथा एकरूप नहीं है, इसलिये निर्मली (फिटकड़ी) औषधि के द्वारा उनको पृथक् किया जा सकता है; इसीप्रकार शुद्धनयरूपी निर्मल औषधि के द्वारा आत्मा तथा मोहादि-अशुद्धभावों को भिन्न करके, शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है।

आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव तो सदा विद्यमान है, किंतु एकांत राग का अनुभव करनेवाले अज्ञानी को वह ज्ञायकस्वभाव दिखलाई नहीं देता है, इसलिये अज्ञानी के लिये वह अदृश्य है, ऐसा कहा गया है। उसका कहीं अभाव नहीं हो गया है किंतु अज्ञानी को दृष्टि में वह दिखलाई नहीं देता, उसको तो अशुद्धता ही दिखलाई देती है। सहज एक ज्ञायकभाव को देखने

के लिये तो शुद्धनय की दृष्टि चाहिये; शुद्धनय में ही ऐसी शक्ति है कि सर्व अशुद्ध भावों से भिन्न ऐसे एक सहज ज्ञायकभाव आत्मा को अनुभव में लेता है। शुद्धनय स्वयं भूतार्थ आत्मस्वभाव में अभेद होकर उसका अनुभव करता है, इसलिये उसको भूतार्थ कहा है। ऐसा अनुभव सम्यग्दर्शन है, उसमें आत्मा का आनंद झरता है। उसकी दृष्टि में भगवान आत्मा जैसा है, वैसा शुद्धरूप में प्रगट हो गया है; प्रथम तिरोभूत था, वह अब शुद्धनय के द्वारा प्रगट हो गया है। इसमें भूतार्थ आत्मा का ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन दोनों एक साथ हैं।

कर्म के संबंध से रहित शुद्ध ज्ञानरस से परिपूर्ण आत्मा का जो अनुभव नहीं करता, वह अपने को कर्म की ओर के अशुद्धभावरूप ही अनुभव करता है, अर्थात् कर्मों का ही अनुभव करता है। व्यवहारनय ऐसे अशुद्ध आत्मा को देखता है; इसलिये वह अभूतार्थ है–असत्यार्थ है, आत्मा के सत्य–भूतार्थ स्वभाव को व्यवहारनय नहीं देखता; आत्मा को देखने के लिये तो अतीन्द्रिय दृष्टिरूप शुद्धनय की आवश्यकता है।

आत्मा का जीवन तो सम्यग्दर्शन है; राग में अथवा शरीर में कहीं आत्मा का जीवन नहीं है। भाई! तुझे तेरा जीवन जीना आया नहीं है। तेरा सच्चा स्वरूप बतलाकर सच्चा जीवन जीने का उपाय तुझे संत बतलाते हैं। प्रथम तो चेतन से अन्य परभाव, इन सभी को शुद्धनय के द्वारा तुझसे पृथक् करके सर्व परभावों से एक भूतार्थ शुद्धात्मा को देख। शुद्धात्मा के ऊपर दृष्टि रखकर जो निर्मल ज्ञान–आनंदधाम में पवित्र जीवन है, वह आत्मा का सच्चा जीवन है, इस जीवन में अनंत गुणों की शुद्धता प्रगट अनुभव में आती है।

जहाँ तू है, वहाँ राग तथा शरीर नहीं; जहाँ शरीर तथा राग है, वहाँ तू नहीं।

तू तेरे चेतनधाम में है; चेतन में राग नहीं एवं रागादि में चेतन नहीं है।

शरीर तो अचेतन है, उसमें जीव कैसा? तथा जीव में शरीर कैसा?

सम्यग्दर्शन किसप्रकार प्राप्त हो, एवं उसकी प्राप्ति होने से क्या होता है, उसका वर्णन है। अहो! आत्मा के हित की यह मीठी मधुर बात है। ऐसा परम वीतरागी सत्य वर्तमान में प्रगट हुआ है, जिसको हजारों जीव जिज्ञासा से श्रवण कर रहे हैं, ऐसे सत्य का पक्ष करनेयोग्य है। आत्मा के स्वभाव की यह सत्य बात लक्ष में लेकर उसका पक्ष करना चाहिये, फिर बारंबार अभ्यास द्वारा उसमें दक्ष होकर अनुभव के द्वारा उसे प्रत्यक्ष करना चाहिये। सर्वथा सरल भाषा

में सभी को समझ में आ सके, ऐसा यह सत्य है। ज्ञानप्रभावना की उत्तम रुचिपूर्वक गुरुदेव कहते हैं कि–वर्तमान में तो लोगों को ऐसा सत्य प्राप्त हो, उसके लिये सरल बोलचाल की भाषा में सस्ते (अल्प मूल्य में) साहित्य का अधिक प्रचार करना चाहिये। अन्य कार्यों में विशेष खर्च करने के बदले जिससे परम सत्य का प्रचार हो, ऐसे (सरल और सस्ते) साहित्य का अधिक प्रकाशन हो एवं लोगों को अधिक पढ़ने को मिले, ऐसा करना चाहिये। सोनगढ़ से अधिक साहित्य प्रचार में आया है एवं करीब सात–आठ लाख पुस्तकों का हिन्दी–गुजराती भाषाओं में प्रकाशन हुआ है, फिर भी अधिक साहित्य सभी को समझ में आवे, ऐसी सरल भाषा में, कम मूल्य में प्रकाशित हो, सच्चे ज्ञान का प्रचार हो, यह करना चाहिये। वर्तमान में तत्त्व के जिज्ञासु अधिक संख्या में दिखलाई देते हैं एवं आत्मा के स्वभाव की ऐसी उच्च कोटि की बात की प्रेम से श्रवण करते हैं; जिज्ञासु लोगों के सद्भाग्य से ऐसा वीतरागी सच्चा साहित्य प्रकाश में आया है।

अहा, ज्ञानस्वभाव आत्मा है–उसका प्रथम अंदर निर्णय करना चाहिये। ज्ञान है, वह राग को जानता है किंतु स्वयं रागरूप होता नहीं है। ज्ञान की शक्ति में राग जानने में आ जाता है; किंतु अंतर में उपयोग को लगाकर जो शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उसको तो उस समय शुद्धनय से शुद्ध परम भाव का ही अनुभव है, उस समय तो व्यवहार का लक्ष भी नहीं है। व्यवहार के समय व्यवहार का ज्ञान होता है, इसलिये उस समय व्यवहार का ज्ञान प्रयोजनवान है; किंतु शुद्धात्मा की अनुभूति के निर्विकल्प आनंद के समय तो व्यवहार किंचित् भी प्रयोजनवान नहीं है, उसमें तो अभेद का ही साक्षात् अनुभव है। पर्याय में भले ही रागादि हों किंतु शुद्धनय के द्वारा देखा जाये तो राग एक ओर रहकर शुद्धात्मा परमभावरूप से अनुभव में आता है, ऐसा अनुभव आत्मा का जीवन है, वह सम्यग्दर्शन है। जिसप्रकार सर्राफ सुवर्ण और तांबे को साथ में मिलाकर सुवर्ण का मूल्यांकन नहीं करता, किंतु तांबे से सुवर्ण को भिन्न मानकर सुवर्ण का मूल्यांकन करता है, उसीप्रकार शुद्धनयवाला ज्ञानी, आत्मा तथा राग को सम्मिलित करके आत्मा का मूल्यांकन नहीं करता है, किंतु राग को निकालकर केवल शुद्धात्मा का मूल्यांकन करता है; वही शुद्धनय की दृष्टि से सच्चे आत्मा का अनुभव करता है; वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है; वही मुमुक्षु जीव का जीवन है।

परभावों से भिन्न आत्मा के भूतार्थ स्वभाव की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है। कर्म के साथ

सम्मिलित अशुद्धभाव, वह अभूतार्थ है; निर्मल गुण-पर्याय के भेद भी व्यवहार के विषय हैं, शुद्ध आत्मा की अनुभूति में यह भेद नहीं हैं, इसलिये वह अभूतार्थ है। वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये भेदरूप व्यवहार का उपदेश अधिक आता है, किंतु उसमें व्यवहार का आश्रय कराने का प्रयोजन नहीं है। अभेद स्वभाव को बतलाने के लिये व्यवहारी जीव की भाषा में व्यवहार से भेद करके कहा जाता है; किंतु कहनेवाले का अभिप्राय परमार्थस्वरूप बतलाने का है, एवं श्रोता भी यदि ऐसा अभिप्राय समझकर परमार्थ स्वरूप को लक्ष में ले तो उसने सच्चा यथार्थ श्रवण किया माना जाता है।

परमार्थ स्वरूप अभेद आत्मा को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करते समय गुणभेद अथवा पर्यायभेद दिखलाई नहीं देते हैं, उसमें राग अथवा परद्रव्य का संबंध नहीं है। ऐसी दृष्टिपूर्वक पर्याय का ज्ञान भी धर्मी करता है, वह व्यवहार है। अपनी शुद्धपर्याय को भेद के द्वारा पहिचानना, वह भी व्यवहार है; एवं उस भूमिका में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का भाव, गुरु के बहुमान का भाव, शास्त्र-रचना इत्यादि के भाव, गृहस्थ को जिनपूजा, आहारदान इत्यादि के भाव—ऐसे भावों को उस-उस समय धर्मी पहिचानता है, वह व्यवहार है। ज्ञान में ज्ञेयरूप उस-उस प्रकार का व्यवहार जानने में आता है। व्यवहार में तन्मय हुए बिना साधक जीव उसको जानता है। शुद्ध द्रव्य के ज्ञान के साथ अपनी पर्याय का भी ज्ञान होता है, एवं ऐसा ज्ञान साधक को उस-उस काल प्रयोजनवान है। उस काल अर्थात् जब विकल्प है, पर्याय के ऊपर लक्ष जाता है, तब उस पर्याय का ज्ञान करता है। शुद्धात्मा के अनुभव में जिसको लीनता है, उसे तो विकल्प ही नहीं है, पर्याय के भेद का लक्ष ही नहीं है, अर्थात् उसको उस व्यवहार को जानने का प्रयोजन नहीं रहा है, वह तो साक्षात् परमार्थ शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की छोटी से छोटी अवस्था को ज्ञान की जघन्यदशा कहा जाता है, केवलज्ञान होता है, वह ज्ञान का उत्कृष्ट भाव है। इसके अतिरिक्त साधकदशा के जितने भी प्रकार हैं, वह सभी मध्यमभाव हैं। व्यवहारनय तो परद्रव्य के संबंध से अशुद्धभाव को बतलाता है, अर्थात् पर्याय की अशुद्धता को बतलाता है। परमार्थ में शुद्ध आत्मा का ही अनुभव है। साधक को ऐसे आत्मा का अनुभव भी हुआ है, इसलिये पर्याय में कुछ शुद्धता प्रगट हुई है, एवं अभी पर्याय में कुछ अशुद्धता भी है; सविकल्पदशा में रागादि भाव होते हैं—इसप्रकार दो अवस्थाएँ साधक को एकसाथ वर्तती हैं। साधक अवस्था में साधक जब परम शुद्ध स्वभाव के

अनुभव में स्थिर नहीं है एवं विकल्प दशा में है, तब पर्याय की शुद्धता-अशुद्धता इत्यादि भेदरूप व्यवहार को भी जानता है-व्यवहार में उत्सुकता न होते हुए भी व्यवहार के भेद उसके ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाते हैं—ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रयोजनवान है; राग का तथा व्यवहार का आश्रय करने लायक है—ऐसा इसका अर्थ नहीं; किंतु ज्ञान में जाना हुआ वह व्यवहार प्रयोजन है। 'उस काल प्रयोजनवान'—ऐसा बतलाकर उसका ज्ञान करवाया है किंतु उसका आश्रय तो छोड़नेयोग्य है। व्यवहार के भावों से पृथक् होकर परमार्थ आत्मा की दृष्टि हुई, तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा होता है। जो परमार्थ की दृष्टि तो नहीं करता तथा व्यवहार के आश्रय की ही बुद्धि रखता है, उसको तो व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं है, उसको तो शास्त्रकारों ने व्यवहारमूढ़ कहा है।

भाई! तेरे आत्मा में जो निश्चय तथा व्यवहार है, उनका रहस्य शास्त्रकारों ने बतलाया है, उसकी तुझे पहिचान करना चाहिये। निश्चय क्या? तथा पर्याय में व्यवहार कैसा होता है? उसको पहिचानना चाहिये। व्यवहार भी जाननेयोग्य है किंतु ग्रहण करने योग्य नहीं है। सम्यक्त्वादि के लिये ग्रहण करनेयोग्य एक परम ज्ञायकभाव ही है।

आत्मा का शुद्धस्वरूप एक प्रकार का है, उसे शुद्धनय देखता है; व्यवहार में पर्याय के अनेक भेद होते हैं, इनको व्यवहारनय दिखलाता है, ऐसे निश्चय-व्यवहारनय साधक को ही होते हैं, अज्ञानी को एवं केवली को नहीं होते हैं। अज्ञानी को तो शुद्ध आत्मा की दृष्टि ही नहीं होने से साधकभाव प्रारंभ नहीं हुआ है; एवं केवलज्ञानी को तो पूर्णता हो गई है; इनके बीच जो साधक है—जिसको शुद्धात्मा की दृष्टि से साधकदशा प्रारंभ हुई है, किंतु अभी पूर्ण नहीं हुई है, वह साधक जीव दोनों नयों के ज्ञानपूर्वक शुद्ध स्वभाव के आश्रय से शुद्धता की साधना करता जाता है।—इसका नाम धर्म तथा मोक्षमार्ग है। जिसने इसप्रकार निश्चय-व्यवहार को पहिचानकर शुद्धात्मा की दृष्टि की है, उसने अपने आत्मा में मोक्ष के लिये मंगल-शिलान्यास किया है।

आत्मा ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव है

[वह इन्द्रियज्ञान से ज्ञात नहीं होता, परंतु अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात होता है]

❀ आत्मा अर्थात् सर्वज्ञपद.....

❀ सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में जिसप्रकार पर को जानने का स्वभाव है, उसीप्रकार स्वयं पर के प्रमाणज्ञान में ज्ञेय हो, ऐसा भी उसका स्वभाव है। अन्य के ज्ञान में स्वयं निमित्त होता है, एवं अन्य ज्ञेयों को अपने ज्ञान का निमित्त बनाता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायकपने का संबंध है।

प्रश्न- आत्मा का ज्ञेय होने का स्वभाव है तो वह इन्द्रियज्ञान के द्वारा क्यों जानने में नहीं आता?

उत्तर- आत्मा का स्वभाव प्रमेय होने का है किंतु वह अतीन्द्रिय ज्ञान में ही प्रमेय होता है, इन्द्रियज्ञान उसको प्रमेय नहीं कर सकता। स्वसंवेदनज्ञानपूर्वक प्रमेय हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है—किंतु कोई अज्ञानी जीव उसे स्वीकार न करे तो उससे कहीं उसका प्रमेयत्व स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता है। वस्तु तो प्रत्यक्ष दिखाई दे ऐसी है किंतु इन्द्रियज्ञानवाला अंधा उसे देख नहीं सके तो उससे क्या? ज्ञान को आत्मोन्मुख करे तो आत्मा जानने में आता है, किंतु ज्ञान को इन्द्रियों की ओर झुकाकर उस ज्ञान से आत्मा को नहीं जाना जा सकता। इंद्रियज्ञान आत्मा को जानने के लिये अंधा है, इंद्रियज्ञान अतीनिद्रय आत्मा को प्रमेय नहीं कर सकता। इंद्रियज्ञान का विषय पर की ओर झुकने का है, अतीन्द्रिय आत्मा का संवेदन उसमें नहीं हो सकता। जो ज्ञान इतना पराधीन है कि इंद्रियों के अवलंबन बिना स्थूल पदार्थों को जानने का कार्य भी नहीं कर सकता, वह पराधीन इंद्रियज्ञान अतीन्द्रिय ऐसे महा आत्मपदार्थ को किसप्रकार जान सकेगा? आत्मा अतीन्द्रिय-चेतनास्वरूप है, वह अतीन्द्रिय-चेतना द्वारा ही जाना जा सकता है।—ऐसा उसका अचिंत्य प्रमेय स्वभाव है, वह स्वयं से ही है, अन्य के कारण से

नहीं। इसीप्रकार सामने परवस्तु ज्ञेय है, इसलिये उसका ज्ञान उसके कारण से होता है ऐसा नहीं है, ज्ञेयों को जानने का आत्मा का अपना स्वयंसिद्ध चेतक स्वभाव है, वह पर के कारण नहीं है।

❀ देखो, ऐसे आत्मा का स्वयं अपने स्वसंवेदन से प्रमेय किया, वहाँ अनंत गुणों की जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह निश्चयधर्म है और उस पर्याय के परिणमन में रागादि का अभाव है अर्थात् निश्चय में व्यवहार का अभाव है; ऐसा अनेकांत स्वयमेव प्रकाशित करता है, इसलिये रागादि द्वारा निश्चयधर्म प्रगट होता है, वह बात नहीं रहती है। संपूर्ण शक्ति के निर्मल परिणमन में रागादि अशुद्धता का अभाव ही है।—ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। ऐसे स्वभावरूप जो परिणमित हुआ, वह सच्चा आत्मा है।

❀ शुद्धनय अनुसार जहाँ आत्मा की अनुभूति हुई, वहाँ ज्ञान तथा राग भिन्न हो गये। ज्ञान कहते ही अनंत धर्मों का अभेद पिंड आत्मा, उसकी निर्मल परिणति आत्मा में अभेद हुई, उसी समय राग से वह भिन्न हो गई।—ऐसे गुण-पर्यायों का समूह आत्मा है। द्रव्य में त्रिकाल व्यापक गुण, एवं एक समय की व्यापक निर्मल पर्याय, वह दोनों मिलकर संपूर्ण आत्मा है। उसके धर्मों का यह वर्णन है।

❀ अनंत धर्मों में से जानने का कार्य ज्ञान में ही है। अन्य धर्मों (श्रद्धा-आनंद इत्यादि) को भी ज्ञान ही जानता है। आनंद इत्यादि सभी धर्मों को ज्ञान जानता है, ज्ञान ने जैसा जाना, वैसा वर्णन वाणी में आया। इसप्रकार ज्ञान का स्व-परप्रकाशी स्वभाव है।

❀ ज्ञान में एक राग के कण से भी लाभ माने तो उसने संपूर्ण आत्मा को ज्ञानस्वभावी नहीं माना, परंतु संपूर्ण आत्मा को विकाररूप ही मान लिया है। राग का कर्तापना करने जावेगा तो शुद्धगुणरूप आत्मा तेरी दृष्टि में नहीं आ सकता। राग के द्वारा गुणों की प्राप्ति माननेवाले ने संपूर्ण आत्मा को रागरूप ही मान लिया है, गुणरूप आत्मा उसने नहीं माना है।—यह मिथ्यात्व है, उसका फल महान दुःख है। राग से भिन्न अनंत गुणस्वरूप जो महान आत्मा है, उसकी पहिचान का फल भी महान अर्थात् अनंत ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण ऐसा सिद्धपद, वह आत्मा को जानने का फल है। जानना, वह अनुभवसहित ज्ञान की बात है, श्रद्धा भी साथ में ही है।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर के कारण-कार्य का अभाव

गुजरात में धर्मप्रभावना करके पूज्य स्वामीजी मगसिर शुक्ला १४ के दिन सोनगढ़ पधारे। समयसार की ४७ शक्तियों में से १४वीं शक्ति के ऊपर प्रवचन करते हुए आत्मा के स्वभाव की कोई अद्‌भुत महिमापूर्वक आपने कहा—अरे, जिनको आत्मा का हित करना हो, जन्म-मरण से छूटना हो, मोक्ष का परम आनंद प्राप्त करना हो—ऐसे जीवों के लिये यह बात है। आत्मा की रुचि करके अंदर में उतरनेवाले को समझ में आये ऐसी यह कोई अपूर्व बात है। आत्मा स्वभाव कितना महिमाशाली है—इसका जो लक्ष करे उसको खबर पड़ती है; अन्यथा केवल बातें करने से आत्मा का ज्ञान हो जाये, ऐसा नहीं है।

—००—००—

आत्मा का स्वभाव जो कि ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण है, वह अनंत शक्तिरूप निजवैभव से भरा हुआ है और स्वसंवेदन के द्वारा वह जानने में आता है। एकसाथ जिसमें अनंत गुण हैं एवं जिसमें क्रमशः अनंत पर्यायें होती हैं—ऐसे गुण-पर्यायों का समूहरूप संपूर्ण आत्मा है, वह ज्ञान द्वारा लक्षित होता है; चेतना लक्षण में ऐसा आत्मा अनुभव में आता है। सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाला जो सच्चा ज्ञान है, वह ऐसे आत्मतत्त्व को पहिचानता है।

अब, ऐसे आत्मा में कारण-कार्यपना किसप्रकार से है ? तो कहते हैं कि अपने द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप जो आत्मा है, उसको पर के साथ कार्य-कारणपना किंचित् भी नहीं है। पर को स्वयं जानं तथा पर को स्वयं ज्ञेयरूप से जानने में आये ऐसा स्वभाव आत्मा में है; किंतु पर का स्वयं कुछ करे, अथवा पर से आत्मा में कुछ किया जाये—ऐसा कारण-कार्यपना पर के साथ किंचित् भी नहीं है। सत्‌स्वभावी आत्मा जैसा है, वैसा स्वीकार करने से सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान होता है।

जो रागादि भाव हैं, वह आत्मा की पर्याय में हैं, वह विभावपर्याय है, किंतु स्वभावधर्म के वर्णन में वह नहीं आते हैं; ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा में रागादि नहीं आते; ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा में तो अपने निर्मल द्रव्य-गुण-पर्याय ही आते हैं। ज्ञानलक्षण के द्वारा आत्मा को ग्रहण करने से जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय हुई, वह आत्मा का कार्य है, वह कार्य राग का अथवा पर का नहीं है, अर्थात् अन्य के द्वारा किया गया नहीं है, इसलिये वह अकार्य है, तथा वह निर्मल पर्याय स्वयं कारणरूप होकर रागादि अथवा पर को नहीं करती है, इसलिये वह पर का कारण नहीं है, अर्थात् अकारण है, इसप्रकार आत्मा को पर का अकार्यपना तथा अकारणपना है। आत्मा अपने स्वभाव से कर्ता-कारण होकर अपनी निर्मल पर्याय को करता है, यह बात बाद में बतलाई जायेगी। इसप्रकार अनंत धर्मस्वरूप एक आत्मा है, वह ज्ञानलक्षण से अनुभव में आता है।

द्रव्य-गुण तथा निर्मल अवस्था को ही आत्मा कहा है, राग को आत्मा नहीं; क्योंकि आत्मा के स्वलक्षणरूप जो ज्ञान है, उसमें राग नहीं है। ऐसा आत्मा अपनी निर्मल पर्यायरूप कार्य का कारण है, किंतु रागादि का कारण वह नहीं है; उसीप्रकार अपने स्वभाव को कारण बनाकर उसके निर्मल कार्यरूप स्वयं होता है, किंतु रागादि परभाव का कार्य वह नहीं होता रागादि को कारण बनाकर आत्मा अनुभव में आता हो, ऐसा नहीं हो सकता।

आत्मा का सुख-स्वभाव है; उस सुख में भी ऐसा अकार्य-कारणपना है कि सुख का कारण अन्य कोई नहीं है, इसीप्रकार आत्मा का सुख पर में किंचित् कार्य कर दे—ऐसा भी नहीं है। सुख के लिये आत्मा को अन्य किसी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है।

सुख कहो या धर्म कहो; आत्मा की धर्मदशा का कारण कोई अन्य नहीं है; एवं आत्मा को धर्मकार्य हुआ, वह बाहर में अन्य का किंचित् कर दे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। ध्रुवपना तथा क्षणिकपना ऐसे दोनों भावरूप उपादान आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से है। जिसप्रकार त्रिकाल ध्रुव द्रव्य-गुण किसी अन्य के कारण से नहीं, अपने स्वभाव से ही हैं, इसीप्रकार क्षणिक पर्याय भी किसी अन्य के कारण से नहीं, अपने स्वभाव से ही है।

भाई! तेरा आत्मा ही ऐसा है। पर की पराधीनता से अपना कार्य हो, ऐसा तू नहीं है; एवं पर का स्वामी होकर उसका कार्य करे, ऐसा भी तू नहीं है। तेरा कारण-कार्य सभी तेरे

ज्ञानस्वभाव में समाविष्ट हैं। ज्ञानलक्षण से लक्षित जो आत्मस्वभाव है, उसी में तेरे सभी धर्मों का समावेश है। तेरी स्वाधीन निजशक्ति संत तुझे बतलाते हैं। तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय का कोई भी धर्म शुभराग के द्वारा अथवा बाहर के निमित्त द्वारा हो जाये, ऐसा तू नहीं है। निमित्त तथा राग की अपेक्षा रखे बिना स्वयं स्वभाव से ही तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तुझमें हैं; ऐसे आत्मा की ज्ञानलक्षण से यहाँ पहिचान करवाई है। इसको पहिचानने से मोक्षमार्ग प्रगट होकर धर्म होता है।

बाहर में किसी अन्य को साधन बनाकर, अथवा शुभराग को साधन बनाकर आत्मा में कोई सम्यग्दर्शनादि धर्म करना चाहे तो नहीं हो सकता; क्योंकि धर्म का कारण ज्ञान से भिन्न नहीं है। धर्म के छह कारक ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही समाविष्ट हैं। अतीनिद्रय आत्मतत्त्व, वह इन्द्रियों के द्वारा अथवा इन्द्रियों का अवलंबन लेनेवाले भावों के द्वारा किसप्रकार प्राप्त हो सकता है? उसको जाननेवाला ज्ञान भी अतीन्द्रियस्वरूप है, इन्द्रियों का अवलंबन उसमें नहीं है। द्रव्यस्वभाव को जिसप्रकार पर की अपेक्षा नहीं है, उसीप्रकार उस स्वभाव में अंतर्मुख एकाग्र होनेवाली निर्मलपर्याय में भी पर की अपेक्षा नहीं है। अहो! ऐसे स्वभाव को अंतर में उग्ररूप से साधते हुए अमृतचंद्राचार्यदेव ने आत्मा के अद्भुत स्वभाव का यह वर्णन किया है। इस भारतवर्ष में जब वह मुनिरूप में विचरते होंगे, तब उनकी मुद्रा कैसी लगती होगी! मुनिदशा, उसकी तो क्या बात! वह तो परमेष्ठी पद है, आत्मा के प्रचुर आनंद में झूलती दशा है! ऐसी दशा में वर्तते हुए जगत के महाभाग्य से इस समयसार शास्त्र की रचना हो गई है।

आत्मा के स्वभाव का अनुभव करनेवाली निर्मल पर्याय है, वह द्रव्यस्वभाव में व्यापक है, वह रागादि में व्याप्त नहीं होती, पर में व्याप्त नहीं होती, ज्ञानपर्याय अपने द्रव्य के संपूर्ण भाग में रहती है, किंतु इस शरीर में तथा राग में नहीं रहती है; एवं शरीर तथा राग, यह ज्ञानपर्याय में नहीं रहते।—इसप्रकार भिन्नता है, इनको एक-दूसरे के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप से अपने आत्मा की पहिचान करने से कर्म के साथ का संबंध सर्वथा छूटकर धर्म होता है, और सिद्धपद प्रगट होता है।

आत्मा की आराधना ही सच्ची वीरता

पंचपरमेष्ठी भगवंत आत्मा को साधने में शूरवीर हैं, वे आराधना के नायक हैं.... मोक्षमार्गी जीवों के मार्गदर्शक हैं।

—००—००—

'भाव' अर्थात् अपने शुद्धात्मस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वह मोक्ष का साधन है; शुद्धात्मा के ध्यानरूप आराधना द्वारा ऐसा भाव प्रगट होता है।

आत्मा की आराधना के नायक पंचपरमेष्ठी भगवंत हैं, उन्होंने शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त किया है, इसलिये उनके स्वरूप का ध्यान करने से शुद्धस्वरूप लक्ष में आता है। व्यवहार से पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर, तथा निश्चय से अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान, यह मंगल है।

पंचपरमेष्ठी भगवंत शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा मंगलरूप तथा शरणरूप हैं, वह उत्तम हैं। उनके समान अपने स्वरूप को पहिचान कर उसमें तू प्रवेश कर... शीघ्रता से तेरे आत्मा का चिंतवन कर... स्वद्रव्य को ग्रहण करके ध्यान कर, एवं परद्रव्य का ग्रहण तथा परद्रव्य का ध्यान जल्दी छोड़।

अहो, आत्मा की आराधना करने में पंचपरमेष्ठी भगवंत मार्गदर्शक हैं, वह आराधना के नायक हैं, आत्मा की साधना करने में शूरवीर हैं। जिसका ध्यान करता है, वैसा ही अपने को अनुभव करे तो सच्चा ध्यान कहलाता है। पंचपरमेष्ठी के समान ही अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करने से आत्मा में परम अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है, यह मंगल है, यह शरणरूप है, एवं जगत् में यह उत्तम है।

परद्रव्य के प्रति रुचि, यह तो आकुलता की जननी है, अंदर में स्वद्रव्य की ओर वृत्ति झुके, वह आनंद की जननी है। शुद्ध आत्मा में ही पाँच पद हैं, पाँच पद कहीं भी बाहर में अथवा राग में नहीं हैं। मुनिपद शुद्ध आत्मा में समाविष्ट है, नग्न शरीर में अथवा पंच महाव्रत के राग में पंचपरमेष्ठी पद समाविष्ट नहीं है। साधुपद, वह तो परमेष्ठी पद है। राग इष्ट नहीं; एवं शरीर तो

जड़ है। इसप्रकार राग से पार एवं जड़ से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप में चेतना को ले जाना, यह कोई अपूर्व पुरुषार्थ है, इसी में आत्मा की वीरता है। जिससे मोक्ष की साधना हो, वही सच्ची वीरता है, ऐसी मोक्ष की साधना करनेवाले जीवों के नायकरूप पंचपरमेष्ठी भगवंत हैं।

प्रथम पंचपरमेष्ठी का चिंतवन, पश्चात् इनका लक्ष छूटकर अपने शुद्धस्वरूप के चिंतवन में एकाग्रता,—उसके द्वारा आराधना प्रगट होती है, एवं आराधना में विघ्नकारक भाव (मिथ्यात्वादि) नष्ट हो जाते हैं। आत्मा में आनंद की उत्पत्ति होकर दु:ख का अभाव हो—इसका नाम आराधना है। आराधना में वास्तव में आराध्य अपना आत्मा ही है। अहा! एक बार तेरे आत्मा को ही आराध्य बनाकर अंदर उसका ध्यान तो कर... प्रथम इसका लक्ष्य करके बाद में इसका पक्ष करके, इसमें दक्ष होकर इसको प्रत्यक्ष कर;—इसी में सच्ची वीरता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप आराधना आत्मा के ही अनुभवरूप है, इसमें कोई अन्य साधन नहीं है। यह आराधना परम आनंदरूप है।

अरहंत-सिद्ध तथा साधु, यह तो मेरे घर में ही विराजमान हैं; आनंदधाम सिद्धसमान मैं ही हूँ, तो आनंद के लिये अपने अतिरिक्त अन्य कहीं भी देखना नहीं है। शरीर तथा राग का मेरे चैतन्य-घर में निवास नहीं है, मेरे चैतन्य-घर में तो पंचपरमेष्ठी का निवास है, चैतन्य के ध्यान द्वारा पंचपरमेष्ठीरूप शुद्धदशा प्रगट होती है। एक पुत्र अथवा पुत्री कहीं भाग जावे अथवा खो जावे तो जीव मोह से दु:खी-दु:खी हो जाता है, कहीं भी चैन नहीं पड़ता; किंतु आत्मा अपने स्वघर को भूलकर विकार में जाने से उसको अपने ज्ञान-आनंद की संतति का अनादि से वियोग हो गया है,—इसका उसको किंचित् भी दु:ख क्यों नहीं लगता? भाई, तेरी ज्ञानचेतना अन्यत्र चली गई है—अज्ञान से रागरूप हो गई है, उस ज्ञानचेतना को स्वघर में ला! तेरा सच्चा स्वरूप तो ज्ञानचेतना है; ज्ञान ही सच्चा शील है। भाई! बाहर के पुत्र-पुत्री तेरे थे ही कब? व्यर्थ में इनको अपना मानकर तू दु:खी हुआ है, इसलिये ऐसी मान्यता का त्याग कर। तेरी तो ज्ञानचेतना है, चार आराधना, यह तेरा परिवार है, इनको पहिचान तो सभी समाधान होकर अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होगा।

भाई, दु:खमय संसार, इसमें शरण तो अपना आत्मा ही है, उसकी शरण में जा... वह दु:खों से तेरी रक्षा करेगा। तू दु:खों से भयभीत है तो अंदर चला जा.... जिसप्रकार पागल दौड़ता हुआ पीछे आ रहा हो तो छोटा बालक तुरंत अपने पिता आदि बड़ों की शरण में दौड़

जाता है, इसीप्रकार संसार के परभावरूपी पागल कुत्ता, राग-द्वेष-मोहरूप दुःख देनेवाले भाव, इनसे तुझे बचना हो तो अंदर में महान् शरणरूप ऐसे तेरे चिदानंदस्वभाव की शरण में चला जा। उसकी शरण से सर्व दुःखों का नाश होकर आनंद की उत्पत्तिरूप मंगल होता है, अंतर्मुख होकर आत्मा की ऐसी सच्ची आराधना करना, यही सच्ची वीरता है। पंचपरमेष्ठी भगवंत नायक हैं। इसप्रकार पहिचानकर हे जीव! तू पंचपरमेष्ठी परमगुरु का तथा उनके जैसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का अंतर में ध्यान कर—ऐसा भगवान का उपदेश है। भावशुद्धि का उपदेश देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! धर्म की आराधना के मार्ग में मुख्य होकर जो मोक्षमार्ग में आगे गये हैं, ऐसे पंचपरमेष्ठी का तू ध्यान कर। वे धर्म की आराधना के नायक हैं, धर्म के मार्ग में आगे चलनेवाले हैं; उनके शुद्धस्वरूप को पहिचानकर उनका ध्यान कर। उनके जैसे शुद्धस्वरूप का ध्यान कर।

जिसप्रकार वीर पुरुष, पूर्वजों की शूरवीरता का वर्णन सुनकर उत्साहित होता है, उसीप्रकार धर्म में जो वीर है, जिसको धर्म की आराधना का प्रेम है, वह धर्म में आगे बढ़े हुए आत्माओं की आराधना का वर्णन सुनकर आराधना के प्रति उत्साहित होता है; प्रेम से-आदरपूर्वक वह आराधक-धर्मात्माओं की बात श्रवण करता है। भगवंत पंचपरमेष्ठी में-से अरिहंत तथा सिद्ध तो आराधना पूर्ण करके स्वयं आराध्य हो गये हैं और आचार्यादि आराधना के पथ पर अग्रसर हैं, ऐसे पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का चिंतन करने से भावशुद्धि होती है। अहा! अरिहंत-सिद्ध और साधु तो मोक्षमार्ग में अग्रसर होकर आगे बढ़ते हुए चले जा रहे हैं, उनके स्वरूप के ध्यान से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इत्यादि का स्वरूप यथार्थ समझ में आता है, इसलिये भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग प्रगट होता है। जगत में मंगलरूप तो ऐसा परमेष्ठी पद है, वही उत्तम है। आराधना के नायक यह पंचपरमेष्ठी भगवंत वीर हैं, वीरता के द्वारा वह कर्म को जीतनेवाले हैं। शुद्धस्वभाव की ओर झुकने से ही शुद्ध आत्मा का ध्यान होता है। जिसप्रकार केवली भगवान की स्तुति ज्ञायकस्वभाव के अनुभव द्वारा होती है, उसीप्रकार पंचपरमेष्ठी का ध्यान भी शुद्ध आत्मा की सन्मुखता से ही होता है।—ऐसे ध्यान के द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है, इसलिये उसका उपदेश है। इसप्रकार जिसने सम्यग्दर्शनादि भावशुद्धि प्रगट की, वही कल्याण-सुख की परंपरा को प्राप्त करता है। इसलिये हे जीव! तू पुरुषार्थ के द्वारा ऐसी भावशुद्धि प्रगट कर।

भावप्राभृत गाथा १२९ में प्रमोदपूर्वक कहते हैं कि—अहा, ऐसी भावशुद्धि के धारक मुनिवरों को धन्य है... उनको नमस्कार हो! श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन से, विशुद्ध ज्ञान से एवं निर्दोष चारित्र से जो शुद्ध हैं तथा मायाचार जिनका सर्वथा नष्ट हो चुका है, ऐसे शुद्धभावसहित श्रमण धन्य हैं। नित्य त्रिविधरूप से उनको नमस्कार हो। वाह! ऐसे भावशुद्धिवान संत वे धर्म के स्तंभ हैं, वे मोक्ष के पथिक हैं, वे प्रशंसनीय हैं, वे आदरणीय हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अहा! धन्य हैं उन संतों को; उनके प्रति हमारा त्रिविध नमस्कार हो। *(भावप्राभृत के प्रवचनों से)*

आत्मा में विकार का अभाव है

जिसप्रकार आम के वृक्ष से आम्रफल ही उत्पन्न होते हैं, निबोरी उत्पन्न नहीं होती, उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यस्वभावी है। उसमें रागादि विकार उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं है। उसमें से तो निर्मलता ही उत्पन्न होती है। यदि चैतन्य में सिद्धपद की शक्ति न होवे तो सिद्धदशा कहाँ से उत्पन्न हो? आम की गुठली में आम्रफल उत्पन्न होने की शक्ति है, इसलिये उसमें से आम की उत्पत्ति होती है। कहीं नीम या बेरी में से आत्म उत्पन्न नहीं होते। उसीप्रकार चैतन्य आत्मा में ही केवलज्ञानादि सिद्धपद की शक्ति है। उसी में से वह प्रगट होते हैं, शरीर या राग में से प्रगट नहीं होते। आत्मा में परम पारिणामिकभावस्वरूप कारणशुद्ध जीव है; उसमें अनंत शक्तियाँ हैं। वह त्रैकालिक प्रभुता है, उसे जानकर उसके आश्रय से ही प्रभुता प्रगट होती है।

महावीर का अनेकांतिक अहिंसादर्शन

लेखक—श्री 'युगल' एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती, उपयोगिता को विस्मृत करके आज उसे केवल 'जीओ और जीने दो' को संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया है। इससे जन-जीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है, वरन उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है; इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिये अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी को बचाने के अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

[गतांक से आगे]

इस संपूर्ण विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई किसी का वध नहीं कर सकता और किसी प्राणी की किसी के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती। तब प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो क्या जगत में हिंसा-अहिंसा नाम की कोई चीज़ ही नहीं है? इस प्रश्न के समाधान के लिये हमें हिंसा-अहिंसा के स्वरूप पर विचार करना होगा। वास्तव में हिंसा-अहिंसा आत्मा की पर्यायें हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाये और उसके निमित्त से उस प्राणी की वर्तमान पर्याय का अंत हो जाये अर्थात् मरण हो जाये तो पत्थर को हिंसा नहीं होती किंतु कोई जीव किसी के वध का विकल्प करे तो उसे अवश्य हिंसा होती है, अतः हिंसा-अहिंसा चेतन की विकारी तथा निर्विकारी दशायें हैं, आत्मा अपने में स्वाधीनता से उनको उत्पन्न करता है। हिंसा का लक्षण 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं' कहा है। प्रमत्त-योगरूप कर्म आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप भावप्राण का व्यपरोपण अर्थात् विकृति करता है और यह विकृति ही हिंसा है। प्रमत्त-योग आत्मा का ही विकारी कर्म है, अतः उस प्रमत्तयोगरूप विकारी कर्म का फल प्राणव्यपरोपण भी आत्मा में ही होता है। प्रमत्तयोगरूप अपराध एक आत्मा करे और उसका फल प्राण-व्यपरोपण कोई प्राणी भोगे, यह अनर्थ लोक में भी सह्य नहीं होता। अतः परप्राण-व्यपरोपण सर्वथा अशक्य होने पर भी किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के अहं अथवा विकल्प से अकर्ता तथा अकृत आत्मतत्त्व की सुंदर

कृति (स्वरूप) की विकृति होने के कारण यह अहं तथा विकल्प उस पवित्र अकर्ता आत्मतत्त्व का विरोधी होने के कारण हिंसा है। आचार्य श्री अमृतचंद्र ने भी पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति' रागादि के अप्रादुर्भाव को अहिंसा और उनकी उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है, अतएव चित्-विकार का अविनाभाव होने के कारण वे सब हिंसा की ही पर्यायें हैं। किसी प्राणी के वध अथवा रक्षा के विकल्प को अर्थक्रिया-कारित्व प्रदान कर सकना जीव के अधिकार-क्षेत्र के बाहर होने के कारण वह विकल्प अशक्यानुष्ठान है, अतएव किसी प्राणी के वध एवं रक्षा का 'अहं' छोड़कर विज्ञ पुरुष सभी प्रकार के विकल्पों से अतीत अपने शुद्ध अकर्ता स्वरूप में ही विश्राम करना श्रेयस्कर समझते हैं और यही शुद्ध आत्मव्यवहार है।

अहिंसा का यह स्वरूप स्थिर हो जाने पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी प्राणी का वध तो हिंसा है ही किंतु यदि उसकी रक्षा का विचार भी हिंसा है तो फिर दूसरे प्राणी की रक्षा का भद्र विचार और व्यवहार भी छोड़ देना चाहिये? इसका समाधान यह है कि दोनों प्रकार के विफल विकल्पों का परित्याग करके यदि आत्मा के अकर्ता स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति का अवसर हो, तब तो दोनों विकल्पों का परित्याग ही उपादेय है। अन्यथा रक्षामूलक शुभ विचार का परित्याग करके वधमूलक अशुभ विचार में प्रवृत्ति करना तो युक्त नहीं है। जैसे औषधि अनुपादेय होने पर भी उसे छोड़कर रोग में प्रवृत्ति करना अच्छा नहीं होता। हाँ, आरोग्य लाभ के अवसर में औषधि का परित्याग अवश्य उपादेय होता है। अतः 'विषस्य विष औषधम्' के समान वधमूलक अशुभ विचार तथा अशुभाचाररूप हिंसा से बचने के लिये रक्षामूलक शुभ विचार तथा शुभाचार का निर्बल दशा में अंगीकार होता है, पर यह अंगीकार अनुपादेय दृष्टिपूर्वक छोड़ने के लिये ही होता है।

लोक में आज हिंसा व अहिंसा का स्वरूप केवल बाह्याचार में संकुचित हो गया है। उसके मूलाधार आत्मा के परिणाम से मानो उसका संबंध ही टूट गया है। यह अविवेक की पराकाष्ठा है, जो लोक में अनाचार को प्रोत्साहित करती है। मन में चाहे कितने ही निंद्य पाप-मय विचार उत्पन्न हों किंतु यदि उनके साथ किसी प्राणी को पीड़ा नहीं हुई तो वह हिंसा नहीं मानी जाती। किंतु यह अविवेक न केवल जैनदर्शन वरन् समग्र भारतीय दर्शन को भी सम्मत नहीं है। किसी व्यक्ति को हमारे मायाचार का पता न लगे और वह प्रपीड़ित न हो तो हम हिंसक

ही नहीं हैं। कोई व्यक्ति परिस्थिति की विवशता में अपनी वस्तु हमें अर्द्ध मूल्य में प्रस्तावित करे तो अर्द्ध मूल्य में उसके क्रय जैसा निर्दय कृत्य करके भी हम अहिंसक ही बने रहते हैं। यदि परप्राण परिपीड़न तक ही हिंसा की सीमा हो तो मुनि के गले में सर्प डालकर श्रेणिक सातवें नरक का कर्म क्यों उपार्जित करते ? मुनि को तो इस कृत्य से कोई पीड़ा नहीं हुई थी। किसी के पैर का कांटा निकालने अथवा शल्य-क्रिया करने में शरीररूप द्रव्य प्राण का छेद भी होता है और उसके भाव-प्राणों का पीड़न भी होता है, पर शल्यकर्ता हिंसक तो नहीं कहलाते। किसी अंधे को पत्थर मारने पर यदि उसके नेत्र खुल जावें तो पत्थर मारनेवाला अहिंसक तो नहीं है। न केवल चेतन वरन् किसी जड़ आकृति पर भी रोष की उत्पत्ति में हिंसा अनिवार्य है। आज आत्मपरिणामशून्य कुछ निश्चित शुभाचार नित्य करके हम 'धर्मात्मा' का ताज अपने शीश पर पहिन लेने का दंभ करते हैं किंतु यह विस्मरणीय नहीं है कि जिस आचार के साथ विचार की तद्रूपता नहीं है, उसके फल में हमें शुभत्व की आशा नहीं करनी चाहिये, वरन् वहाँ अशुभ फल की ही संभावनायें अधिक होती हैं। अत: जीवन को मुक्ति के प्रशस्त पथ पर अग्रसर करने के लिये यह अनिवार्य है कि आत्मा में जगत की अकर्ता तथा अकृत स्थिति के प्रति अविश्वासरूप महाबंध का अंत हो तथा उसमें विवेक और सदाचार का उदय हो। लोक में पारस्परिक दंभ, द्वेष और घृणा का उन्मूलन करने के लिये भी आवश्यक है कि हम अपने में संतुष्ट होकर अपनी वासनाएँ घटायें और परिग्रह की संचय-वृत्ति घटाकर सभी प्राणियों को अपने स्वत्व की उपलब्धि का अवसर दें।

प्रमत्तयोगपूर्वक चित्-विकार के अभाव के रूप में अहिंसा का स्वरूप हृदयंगम कर लेने पर विश्व के स्वचालित क्रमबद्ध जीवन-प्रवाह पर अपना स्वत्व स्थापित कर उसमें पद-पद पर हस्तक्षेप करके उस प्रवाह-क्रम को बदल देने के मिथ्या अहंरूप महापाप का तो अंतिम संस्कार हो ही जाता है, साथ ही जागृत एवं गतिमान पुरुषार्थ से जीवन की रही सही दुर्बलतायें भौतिक अपेक्षायें भी अतीत होती जाती हैं और जीवन निरपेक्षता की उच्चतर भूमिकाओं पर अरोहण करता अंत में पूर्ण निरपेक्ष अथवा मुक्त बन जाता है। जीवन की इस उच्चतम निरपेक्षता को सिद्ध अथवा परमात्मा कहते हैं और यह परम निराकुल निर्विकार स्थिति ही अहिंसा का अमृत-फल है।

यही महावीर की अहिंसा का अनेकांतिक दर्शन है और यह महावीर के दर्शन की अनेकांतिक अहिंसा है। [समाप्त]

अशुद्धता कैसे दूर हो ?

शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता नष्ट करने का उपाय है। जो जीव परद्रव्य से अपने को राग-द्वेष मानता है, उसकी अशुद्धता कभी दूर नहीं हो सकती। जो पर को अपना मानता है, उसे अशुद्धता नहीं होगी तो और क्या होगा ? पर के कारण जो अशुद्धता मानता है, उसको अशुद्धता दूर करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, क्योंकि अशुद्धता पर से मानी है, इसलिये उसे दूर करने के लिये वह पर की ओर देखता रहेगा, और पर की ओर देखने से अशुद्धता कभी दूर नहीं हो सकती। शुद्ध स्वभावरूप से अपना अनुभव करे, तभी अशुद्धता दूर हो सकती है। इसलिये शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता को दूर करने का उपाय है—ऐसा हे जीवो ! तुम जानो।

जिसको आत्मा की आवश्यकता प्रतिभासित हो, उसको आत्मा की बात समझ में आये बिना नहीं रह सकती। जिसप्रकार बाहर की अन्य बातों का रस है, इसलिये वहाँ की अधिक स्मृति रहती है, उसीप्रकार जिसको आत्मा की प्रतीति हो, आत्मा को समझने की रुचि जागृत हुई हो, उसको यह बात भी अवश्य समझ में आ सकती है, एवं इस ही में उसका ज्ञान कार्य करता है। यह तो अपने घर की ही बात है, अपना स्वरूप अपने को कैसे समझ में नहीं आयेगा ? उसे समझने का अलौकिक उपाय आचार्यदेव ने इस समयसार में बतलाया है। अपने हित के लिये अन्दर में रुचिपूर्वक आत्मा का स्वरूप समझना चाहिये।

टेप-रिकार्डिंग द्वारा अध्यात्म का प्रचार

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का जैन समाज में प्रचार हो और लोगों को सर्वज्ञ-वीतराग कथित आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त हो, इस हेतु श्री नवनीतलाल चुनीलाल जवेरी (अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट) की ओर से श्री ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में, पंडित गोविन्ददासजी खडेरीवाले देहली तथा मध्यप्रदेश में और श्री ब्रह्मचारी दीपचंदजी महाराष्ट्र में टेप-रिकार्डिंग तथा विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा अच्छा प्रचार कर रहे हैं। ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी छह महीने तक प्रचार-कार्य करके तारीख १९ को सोनगढ़ आ रहे हैं और अब श्रावण मास तक पूज्य स्वामीजी की अध्यात्म-वाणी का लाभ लेंगे।

❀❀❀

लोहारदा:—हमारे यहाँ समस्त दिगम्बर जैन समाज के अत्यंत अनुरोध से सोनगढ़ के प्रसिद्ध विद्वान श्री चिमनलालजी पधारे हैं। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान प्राप्त करने हेतु यहाँ पर २ माह से निम्न कार्यक्रम चल रहा है। अभी एक माह पंडितजी और रहेंगे।

सुबह ८.०० से ९.०० प्रवचन (मोक्षमार्गप्रकाशक)

दोपहर १.०० से २.०० बालकों की पढ़ाई (लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका)

दोपहर २.०० से ३.०० बड़ों की पढ़ाई

शाम को ७.०० से ८.०० शास्त्र-प्रवचन एवं बाद में पढ़ाई।

इसप्रकार धर्म का अपूर्व लाभ यहाँ की जैनसमाज ले रही है। यहाँ की समाज सोनगढ़ की अत्यंत आभारी है।

—मानकचंद पाटौदी

मुमुक्षु मंडल (लोहादा)

आत्मा का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	" " " भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	शास्त्र का अर्थ समझने की पद्धति	०.१०
१७	श्रावक धर्मप्रकाश	२.००
१८	अष्ट-प्रवचन (भाग-१)	१.५०
१९	अष्ट-प्रवचन (भाग-२)	१.५०
२०	मोक्षमार्गप्रकाशक	२.५०
२१	पं. टोडरमलजी स्मारिका विशेषांक	१.००
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२४	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२६	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
२७	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-३	०.६५
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	३.२५
२८	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२९	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
३०	मंगल तीर्थयात्रा (सचित्र)	६.००
३१	मोक्षमार्गप्रकाशक ७वाँ अध्याय	०.५०
३२	जैन बालपोथी भाग-२	०.४०
३३	अष्टपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) पं. जयचंदजीकृत भाषावचनिका	प्रेस में
३४	तत्त्वनिर्णय	०.२०
३५	शब्द-कोष	०.२०
३६	हितपद संग्रह (भाग-२)	०.७५

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)